दृष्टिकोण

लेखक

विनयमोहन शर्मा

प्रकाशक
नन्दकिशोर एण्ड ब्रदर्स
बनारस

प्रकाशकीय

हमें श्री. विनयमोहन शर्मा के साहित्य समीक्षात्मक विचारों को "दृष्टि-कोण" के रूप में प्रस्तुत करते हुए अत्यन्त हर्ष हो रहा है। शर्माजी से हिन्दी संसार सुपरिचित है। ग्रंथमें साहित्य का निष्पक्ष भाव से मूल्याङ्कन किया गया है। आशा है, हिन्दी साहित्य का अध्ययन करने वाले पाठकों का इससे निश्चय ही मार्ग-दर्शन होगा। यहाँ-वहाँ प्रूफ की अशुद्धियाँ रह गई हैं, जिसके लिए हमें अत्यन्त खेद है।

प्रकाशक

निवेदन

यह मेरे समय-समय पर सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित आलोच-नात्मक लघु निबन्धों का संग्रह है। कुछ निबंधों में साहित्यिक सिद्धान्तों और वादों की भी चर्चा की गई है। लेखन-काल की दृष्टि से कुछ निबन्ध आज से बीस-बाईस वर्ष पूर्व लिखे गये हैं परन्तु उनमें व्यक्त विचारों में परिवर्तन करने की आज भी मुझे आवश्यकता नहीं अनुभव हुई। आलोचना के क्षेत्र में मत-भेद की सदा गुंजाइश रहती है। यदि मेरे विचारों में कहीं कोई विरोधी स्वर सुन पड़ता हो तो इसका अर्थ "भिन्नरुचिर्लोकः" ही समझना चाहिये। व्यक्ति-विशेष को केन्द्र बनाना मेरे निबन्धों का लक्ष्य नहीं है। जिनके हृदय में साहित्य प्रेरणा के रूप में प्रतिभासित हुआ है, उनकी कृतियों का निस्संकोच मूल्याङ्कन किया गया है।

प्रूफ की अशुद्धियों के लिये तो प्रकाशक ही क्षमा- याचना कर सकते हैं; मैं तो केवल उनके लिये खेद ही व्यक्त कर सकता हूँ।

ता. २-१०-५०
नागपुर महाविद्यालय
नागपुर

विनयमोहन शर्मा

निबन्ध-सूची

साहित्य की पृष्ठ-भूमि

साहित्य मानवीय अनुभूतियों का प्रतिबिम्ब है और उनकी आलोचना पर उसकी सृष्टि ही क्यों होती है ? यह प्रश्न सहज ही उद्भूत होता है। कहा जाता है कि मनुष्य में अपने को अभिव्यक्त करने की तीव्रतम आकांक्षा होती है। जब वह संसार में कुछ देखता है, कुछ अनुभव करता है, तो उस अनुभव को अपने तक ही सीमित नहीं रखना चाहता, वह उसे स्वभावतः दूसरों से प्रकट किए बिना नहीं रह सकता। वह 'अपने' 'एक को' "अनेक" में बिखेरने को व्याकुल हो उठता है। उसमें "एकोऽहं बहुस्याम्" की भावना स्वभावतः होती है।

एक मनोवैज्ञानिक का विश्वास है कि साहित्य अतृप्त वासनाओं की अभिव्यक्ति मात्र है। उसका कहना है कि "मनुष्य का समस्त मानव जीवन उसकी कुछ आदिम प्रवृत्तियों और सामाजिक आवश्यकताओं के अन्तर्द्वन्द्व द्वारा ही संगठित और शासित होता है; और उन प्रवृत्तियों में कामप्रवृत्ति ही सबसे प्रबल रहती है।" मन के उसने तीन भाग किये हैं — एक चेतन, दूसरा अर्धचेतन, और तीसरा अचेतन मन। चेतन मन में सभी बातों का ज्ञान हमें रहता है; अर्धचेतन से बीती बातों की हमें स्मृति आती है; और अचेतनमन सुप्तावस्था का भाग है, जिसका हमें ज़राभी आभास नहीं होता। शास्त्रीय भाषा में मन का अचेतन भाग "इड" कहलाता है, जो मनुष्य-जन्म की प्रारम्भिक अवस्था है। "इड" विकसित होकर "इगो" नामक दूसरा मन-खंड बन जाता है, जिसमें हमारे चेतन ज्ञान की स्थिति है और इन दोनों से पृथक मन की तीसरी अवस्था को "सुपर इगो" कहते हैं; जो आदर्श सिद्धान्त और धर्माधर्म की भावनाओं से ओत-प्रोत रहता है ! यह मन-खंड जिस व्यक्ति में जितना विकसित होता है वह उतना ही आत्मदमनप्रिय होता है। वह अपने "इगो" के प्रकृत विकारों से सदा संघर्ष लेता रहता है और उनपर विजय प्राप्त करता रहता है।

फ्राइड कहता है कि इच्छाओं का दमन दो रूपों में प्रकट होता है—[१] हिस्टीरिया, मेलनकोलोनिया [उदासी] आदि रोगों में और [२] उन्नत

भावनाओं की सृष्टि में। कलाकार की "कृति" (साहित्य का जन्म) 'दमन' के दूसरे रूपका परिचायक है।

'फ्राइड' की इस व्याख्या में हमें एकाङ्गीपन दीखता है। वह विशुद्ध काल्पनिक साहित्य के सम्बन्ध में ठीक हो सकती है। हमारी इच्छा हवाईजहाज में उड़ने की है पर हमारे साधन इतने अल्प हैं कि हम उसमें 'उड़' नहीं सकते। अतः, हमें अपनी इस 'इच्छा' का दमन करना पड़ता है। पर हम स्वप्न में आसानी से हवाई जहाज में बैठ गगन–विहार कर सकते हैं; और चाहें तो कल्पना के द्वारा भी अपने 'उड़ने' के सुख–दुःखको प्रकट कर सकते हैं। फ्राइड के अनुसार हमारी इच्छाएं प्रत्यक्ष जगत में जब अतृप्त रहती हैं तब वे साहित्य में उतर कर हमें मानसिक तृप्ति प्रदान करती हैं।

परन्तु प्रश्न यह है कि क्या साहित्य में अतृप्त विकारों–इच्छाओं–का ही प्रतिबिम्ब होता है ? यदि ऐसा है तो साहित्य से अनुभूत विकारों–इच्छाओं–का निष्कासन ही हो जाता है। पर हम देखते हैं, 'तृप्त' वासनाओं–अनुभूतविकारों का भी चित्रण साहित्य में रहता है। सच बात यह है कि तृप्त और अतृप्त दोनो प्रकार की "वासनाएं" साहित्य–सृजन की पृष्ठ–भूमि तैयार करती हैं। अतृप्त वासनाएं अपनी अभिव्यक्ति में भावनाओं की तीव्रता का कारण अवश्य बनती हैं; स्रष्टा के मन में विह्वलता, अशान्ति और ललक बढ़ाती हैं और जब तक वे साहित्य का कोई मूर्तरूप धारण नहीं कर लेतीं, उसे अस्वस्थ ही रखती हैं। संभव है, मानसिक अशान्ति के कारण ही फ्राइड ने उसे साहित्य–सृष्टि का मूल माना हो, पर उसकी आँखों से यह बात ओझल हो गई कि अनुभूति का सत्य भी 'साहित्य' को प्रेरित करता है। अतः, हमें साहित्य-सृजन का प्रथम कारण ही युक्तिसंगत प्रतीत होता है; हमारे भीतर जो अपने अनुभव को,—चाहे वह अतृप्त वासनाजन्य विकलता, हो चाहे तृप्त वासना का आत्मविभोरक सुख हो–व्यक्त करने की जो स्वाभाविक उत्कण्ठा होती है, वही साहित्य की भूमिका है। एक में किसी वस्तु या भाव के अभाव का अनुभव होता है और दूसरे में 'वस्तु' या 'भाव' की प्राप्ति का अनुभव होता है। दोनों स्थितियों में 'अनुभव' आवश्यक है। तभी साहित्य को 'मानव जीवन की अनुभूति' उचित ही कहा जाता है। यहां वस्तु या भाव के 'अभाव' और प्राप्ति का अर्थ समझना आवश्यक है। 'वस्तु' चूंकि रूपात्मक है, इसलिये उसके अभाव और पाने की दशा स्पष्ट है, पर "भाव" अरूपात्मक है: इसलिये उसके अभाव और प्राप्ति की स्थिति विचारणीय है। उदाहरण के लिये 'क' कचेहरी में एक सिविल जज है। सिविल जज के पद के साथ कुछ अधिकारों का समावेश है। उन अधिकारों में मुकदमा सुनना, स्थगित करना अनुकूल–प्रतिकूल निर्णय देना आदि आते

हैं। अधिकार-पद सर्वथा अरूपात्मक है। उसी के पास बैठा हुआ 'ब' एक क्लर्क है जो 'जज' के अधिकारों को देखकर मन ही मन अपने 'पद' में उन्हें न पा ललक उठता है—विकल हो उठता है! उसकी इस मानसिक प्रक्रिया को हम कह सकते हैं कि 'ब' में 'क' के 'अधिकार-पद' के भाव का अभाव उसमें व्याकुलता भर रहा है।

मान लीजिये परिस्थति विशेष ने 'ब' को 'क' के स्थान पर आसीन कर दिया। ऐसी स्थिति में हम कहेंगे कि 'ब' जज के अधिकार-'भाव' की 'प्राप्ति' का 'सुख' अनुभव कर रहा है! कहने का तात्पर्य यह कि हम 'रूप' को ही पाने को व्यग्र नहीं होते, 'अरूप' के प्रति भी हमारी आकांक्षा होती है। उसके अभाव की व्यग्रता हमारे मन को आच्छादित कर देती है, और तब हम भरे हुए तालाब के जल को द्वार से बाहर निकालने के समान उसे मुख या लेखनी से प्रवाहित कर देते हैं। इसी प्रकार उसकी प्राप्ति का हर्ष भी हमारे मन को भर देता है, और हम उसे अपने भीतर ही अधिक समय तक रोक रखने की क्षमता न रहने पर 'बाहर' निःसृत कर देते हैं। विषाद और हर्ष का साहित्य इन्हीं मानसिक क्रियाओं का परिणाम होता है।

रस-निष्पत्ति

भारतीय चिंतन-क्षेत्र में रस की कल्पना अति प्राचीन है 'रसो वै ईश्वरः' इस वैदिक सूत्र में मानव का जीवन-लक्ष्य ही रसोपलब्धि बतलाया गया है। नाट्यशास्त्र के आचार्य भरत ने रस के सम्बन्ध में लिखते हुए कहा है: "विभावानुभाव-व्यभिचारि-संयोगात्रसनिष्पत्तिः" अर्थात विभाव-अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। भरत की इस रस-व्याख्या से उनके परवर्ती आचार्यों को संतोष नहीं हुआ। अतः, उनके 'संयोग' और 'निष्पत्ति' शब्दों को लेकर अनेक वाद चल पड़े, जिनकी चर्चा बाद में की जायगी। पहिले रसके पोषक भाव-विभाव-अनुभावोंपर विचार कर लेना आवश्यक है।

मनुष्य सृष्टि में प्रतिबिम्बित होता और अपने में सृष्टि को प्रतिबिम्बित करता रहता है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य का सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध है। यही सम्बन्ध सामाजिक चेतना को जन्म देता है। 'सम्बन्ध' के इन रूपों के अनुसार उसके मन में अनेक विकार उठते रहते हैं, प्रत्येक इच्छाशक्ति एक विकार है—एक भाव है। पर समस्त इच्छाशक्तियों के परिणाम को तोलकर उनके मुख्यतः दो भाव या विकार निर्धारित कर दिये गये हैं और वे हैं सुख तथा दुःख। मूलगत भावों को अंग्रेजी में Instinct अथवा Sentiment कहते हैं। इन्हीं को मूलरूप में मानकर प्राचीन अलंकारिकों ने असंख्य विकारों अथवा भावों को प्रधानतः नौ भावों में परिगणित कर लिया है वे हैं रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और निर्वेद। 'रसगंगाधर' में जगन्नाथ कहते हैं "जो वासनाएं चित्त में चिरंतन स्थिर हो जाती हैं वे ही स्थायी भाव कहलाती हैं और इन्हीं से रस-निष्पत्ति होती है।" पर भावों की रसावस्था प्राप्त होने के लिये उनका जाग्रत और उद्दीप्त होना भी अवश्यक है और यह क्रिया जिस उपादान से संभव होती है उसे विभाव कहते हैं। जो भाव को जाग्रत करते हैं, वे आलंबन विभाव और जो उद्दीप्त करते हैं, उन्हें उद्दीपन विभाव कहा जाता है। अमूर्त भाव जाग्रत होकर शरीर पर जो प्रभाव दर्शित करते हैं वे अनुभाव कहलाते हैं। 'अनु' का अर्थ पश्चात होता है। भाव के अनंतर जो भी क्रिया शरीर पर गोचर होने लगती है उसके तीन प्रकार होते हैं

१ कायिक, २ मानसिक, ३ सात्विक। सात्विक अनुभावों की संख्या आठ है — स्वेद,
स्तंभ, रोमांच, स्वरभंग, वेपथु (कंप), वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय (मूर्च्छा)। जो
भाव थोड़े २ समय तक तरंगित होकर विलीन हो जाते हैं, वे 'संचारी' या
'व्यभिचारी' कहलाते हैं। उनकी संख्या ३३ मानी गई है। व्यभिचारी भावों
में से यदि कोई एक भाव स्थायी रूप से मन को अभिभूत कर लेता है तो वह
संचारी न रह कर 'स्थायी' बन जाता है। मन अनेक संकल्पों—विकल्पों से रचित है;
अतः उसकी वृत्ति अनिश्चित है। इसलिये उसमें रह कर भावों का उदयन
और विलयन होता रहता है — परिस्थिति विशेष से कोई भाव प्रधान बन जाता
है और कोई उसके पोषक 'संचारी' आदि के रूप में गौण हो जाते हैं।

भरत के अनुसार 'विभावानुभावसंचारी' के योग से रस की निष्पत्ति
होती है पर — भरत की इस व्याख्या से आचार्यों को शंका हुई कि रस की
निष्पत्ति किसमें होती है — नाटक के पात्र में; अभिनेता में या दर्शक में?
यहां यह स्मरण रखना चाहिये कि रस-निष्पत्ति का सिद्धांत भरत मुनि ने नाट्य
रचना को दृष्टि में रखकर निरूपित किया था। सबसे पहले भट्ट लोल्लट ने भरत
के 'निष्पत्ति' शब्द से यह अर्थ निकाला कि 'रस' की उत्पत्ति नाटक के
पात्र में होती है। अभिनेता या नट वेश-भूषा, वचन, व्यापार आदि द्वारा
नाटक के पात्रों का अनुकरण करते हैं, जिससे उनमें भी रस की प्रतीति होती है
और दर्शक विभाव-अनुभाव संचारियों द्वारा चमत्कृत हो आनंद से भर जाता
है। वस्तुतः दर्शक के मन में रस नहीं होता। लोल्लट का यह मत 'उत्पत्तिवाद'
के नाम से प्रसिद्ध है। इस मत पर यह आपत्ति उठाई गई कि नाटक के पात्रों
की वेश-भूषा आदि बाहरी बातों का अनुकरण तो किया जा सकता है—वेश-
विन्यास साध्य है, पर उनके हृदयों में सरसनेवाले भावों को पात्र कैसे अपने
में प्रवाहित कर सकते हैं? पात्र परस्पर एक दूसरे को दुष्यंत और शकुंतला
नहीं मानते; वे तो अपनी सत्ता पृथक् रखकर उनका अनुकरण मात्र करते
हैं। शकुंतला का दुष्यंत द्वारा प्रत्याख्यान उसके जीवन-मरण का प्रश्न था।
पर, क्या शकुंतला का अभिनय करनेवाली अभिनेत्री नकली दुष्यंत के बिछोह
में सचमुच उद्वेलित हो सकती है? उसके नेत्रों का पानी आंसू नहीं होता,
वास्तव में पानी ही होता है। इसके अतिरिक्त दर्शक को जिस भाव की कभी
अनुभूति नहीं हुई वह अभिनेताओं के असत्य अनुकरण-मूलक अनुभवों से कैसे
द्रवित हो सकता है? लोल्लट भट यह भी कहते हैं कि विभावों का प्रकटीकरण
रस का कारण और रस है। परन्तु यह भी ठीक नहीं है। विभाव के क्रियमान
रहने पर ही रस की उत्पत्ति हो सकती है। विभावों के साथ ही रस का सर्जन
होता है।

उत्पत्ति से संतुष्ट न होकर शंकुक ने अनुमितिवाद को अग्रसर किया। उन्होंने भरत के निष्पत्ति शब्द का अर्थ अनुमिति ग्रहण किया। उनके मत से रस नायक या पात्र में ही विद्यमान रहता है; नट विभाव, अनुभाव द्वारा जब नाटक के पात्रो का अभिनय करता है, तब नटो में भी हम नाटक के पात्रों के भावों का अनुमान लगा लेते हैं। दर्शक में रस की स्थिति नहीं होती। वह तो चतुर अभिनेता को ही नायक समझ लेता है। इसी भ्रांति से उसे नट में नायक के भावो का अनुमान हो जाता है। इस 'वाद' में भी रस की अवस्थिति दर्शक में नहीं मानी गई है। भट्ट नायक का कहना है कि तटस्थ व्यक्ति में स्थित भावों की सत्ता से कैसे आनंद मिल सकता है? नायक के विभाव-अनुभाव दर्शक के विभाव-अनुभाव नहीं हो सकते। नायक के विरोध का यह कहकर निराकरण किया गया है कि अभिनय देखते-देखते दर्शक के मन में भी यह भाव उठता है कि "नायक मैं ही हूं" नायक का स्थायीभाव दर्शक में मिथ्यारूप से प्रकट होता है, जिसकी प्रक्रिया उसके मन में होती है और वह आनंदित हो जाता है। परन्तु इस मत पर भी यह आपत्ति उठाई गई है कि यदि आलंबन के प्रति नायक के प्रेमभाव का दर्शक हो में उदय होना मानें तो पूज्य व्यक्तियो के सम्बन्ध मे इस अनुमान का निर्वाह कैसे होगा? नाटक के पात्र राम का सीता के प्रति जो स्निग्ध रतिभाव है वही यदि दर्शक का भी सीता के प्रति होने लगेगा तो हिंदू संस्कृति की आत्मा काँप उठेगी। ऐसी स्थिति में रस नहीं; रसाभास की निष्पत्ति होगी।

इसके विरोध में भट्ट नायक ने भुक्तिवाद' को पुरस्सर किया। इस वाद के अनुसार रस की सत्ता दर्शक में होती है और यह अभिधा, भावकत्व तथा भोजकत्व नामक शक्तियों के सहारे रस का आस्वाद लेता है। भट्ट नायक काव्य को 'शब्दात्मक' मानते हैं। अतएव उनके मत से शब्द–शक्ति के द्वारा पाठक या श्रोता के हृदय में रसानुभूति पैदा होती है। शब्द के तीन व्यापार हैं अभिधा, भावना, और भोग। अभिधा शब्दो का अर्थबोध कराती है। जो भाव रसोत्पत्ति का कारण है उसे शब्द के द्वारा अर्थरूप में बोधगम्य होना चाहिये। शब्द की दूसरी शक्ति भावना है। शब्द जब किसी व्यक्ति–विशेष की अनुभूति का अर्थ देता है तो वह उस व्यक्ति–विशेष की अनुभूति को ही नहीं व्यक्त करता, सर्वसाधारण की अनुभूति को भी व्यक्त करता है। शब्द भावनाशक्ति द्वारा व्यक्तिगत भाव को साधारणीकृत भाव में परिवर्त्तित कर देता है और उसमे जो अनुभूति पैदा होती है वह व्यक्तिगत संबंध से परे होकर सर्वजनीन बन जाती है। और तभी दर्शक, पाठक या श्रोता में रसानुभूति होने लगती है–रसभोग की क्षमता होती है। पात्र के साथ होनेवाले तादात्म को अंग्रेजी में Empathy कहा जाता है।

अभिनव गुप्त भट्ट नायक के साधारणीरूप सिध्दान्त को मानते हैं पर उनके भावकत्व और भोजकत्व पदों में कोई नवीनता नहीं पाते। वे कहते हैं भावकत्व और भोजकत्व शब्द-व्यापार नहीं हैं। इनका कार्य व्यंजना और ध्वनि से चल जाता है। अभिनवगुप्त ने रस–निष्पत्ति को रस की अभिव्यक्ति माना है। रस की व्याख्या में वे कहते हैं, काव्य के शब्दों ध्दारा मानव–हृदय में अव्यक्त रूप से वर्तमान भाव अथवा वासना, विभाव, अनुभाव ध्दारा उद्बुद्ध होकर 'हृदय–संवाद' के मार्ग से रसरूप में अनुभूत होती हैं। भाव चित्त की एक वृत्तिमात्र है। भरत ने लौकिक अनुभूति को रसानुभूति में परिवर्तित करने के लिये हृदय-संवाद (सहृदयता) की आवश्यकता बतलाई है। विशिष्ट अनुभूति को रसानुभूति बनने के लिये साधारणत्व में परिवर्त्तित होना आवश्यक है। काव्यगत अनुभूति को स्वगत समझने, परगत समझने या देशकाल तक सीमित मानने से रस–निष्पत्ति संभव नहीं। इस बात को भट्टनायक तथा अभिनव गुप्त समझते थे। तभी उन्होंने व्यक्तिगत अनुभूति को श्रोता की मानसभूमि पर लाने के लिये श्रोता से उस मानस भूमि में प्रविष्ट होने की अपेक्षा की है; जहाँ पहुँचकर व्यक्ति देश, काल और व्यक्ति–निरपेक्ष हो जाता है। यही अवस्था सार्वजनीन अनुभव के रसास्वाद की है। अभिनवगुप्त का यह वाद अभिव्यक्ति-वाद के नाम से प्रसिद्ध है।

प्रश्न यह है कि साधारणीकरण की अवस्था किसमें पैदा होती है-पाठक दर्शक या श्रोता तथा पात्र के मध्य अथवा पाठक, दर्शक या श्रोता तथा कवि के बीच ? वास्तव में कवि में ही सर्व प्रथम भाव विशेष का उद्रेक होता है। कवि अपने पात्रों की स्थिति में अपने को ले आता है। स्रष्टा ही अपनी सृष्टि के साथ एकाकार हो जाता है। नाटक और प्रबन्ध काव्य में तो कवि और दर्शक, श्रोता या पाठक के बीच पात्र मध्यस्थ बनता है और गीति काव्य में उसका अपने पाठक या श्रोता से सीधा सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। एक में पात्रों के द्वारा नाटककार या कवि का अपने पाठक, दर्शक या श्रोता से भाव–तादात्म्य होता है और दूसरे में कवि बिना मध्यस्थ के अपने पाठक या श्रोता के साथ एक हो जाता है। यह तभी संभव है; जब रस–ग्राहक की भावकत्व-शक्ति 'सहृदयता' जाग्रत हो। भट्ट नायक का "भावना-व्यापार" साधारणीकत्व का आवश्यक उपकरण है। एक ही जाति की वस्तुयें निकट आती हैं। यही सिद्धान्त भावों के संबंध में भी लागू होता है। कवि और पाठक जब समभाव भूमि पर खड़े हो जाते हैं तो वे एक दूसरे को सम दुखी या सुखी अनुभव कर तुष्टिलाभ करते हैं और यह तभी होता है जब पाठक के मन में भी कवि की भावना किसी न किसी रूप में सोई रहती है। पाठक के लिए यह

आवश्यक नहीं है कि उसने प्रत्यक्ष कवि के भावों को अनुभव किया हो। उदाहरण के लिये विरह की पीड़ा का साधारणीकरण होने के लिये पाठक को स्वयं कभी विरह का प्रत्यक्ष अनुभव होने की आवश्यकता नहीं है; यदि उसने किसी की विरह-पीड़ा को देखकर कभी दुःख अनुभव किया है तो यह अनुभव भी उसके मन पर संस्कार बन कर अंकित हो सकता है। और नाटक या काव्य देख-पढ़कर वही मानसिक संस्कार जाग उठता है। विधवा पर जब कवि करुणगीत लिखता है तब कवि स्वय तो कभी विधवा नहीं बना रहता, वह किसी 'विधवा' की मानसिक स्थिति के साथ पहिले साधारणीकरण की अवस्था प्राप्त किये होता है। वह अपने आलम्बन के साथ जब तक एकात्म स्थापित नहीं करता तब तक उसके मन में अनुभूति-संस्कार नहीं जगने पाता। रस-भोक्ता व्यक्ति के मन पर भी भावों के संस्कारों का प्रत्यक्ष अनुभूत होना आवश्यक नहीं है; वे 'मध्यस्थ' द्वारा भी प्राप्त हो सकते हैं। अभिनवगुप्त के मतानुसार रस-निष्पत्ति तभी होती है जब भाव पहिले से ही वासना-रूप में विद्यमान रहता है। पर 'वासना' या संस्कार प्रत्यक्ष अनुभव से ही नहीं परोक्ष अनुभव से भी मनपर, अंकित हो सकते हैं; इसे हमें नहीं भूल जाना चाहिये

कहानी-कला का विकास

: ३ :

कथा मानव जीवन का उत्स है और कुतूहल भी। बेकन ने कहा है—"वस्तु सत्य और सत्य ज्ञान एक ही है। दोनों मे अन्तर इतना ही है कि एक किरण है और दूसरा उसका प्रतिबिम्ब।" हम यही अन्तर जीवन और कथा में मानते हैं। जीवन स्वयं सत्य है और कथा उसका प्रतिबिम्ब। जिस प्रकार जीवन अनेक व्यापारो तथा अंगो का बना हुआ है उसी प्रकार कथा भी कुछ अथवा कई व्यापारों तथा अंगो का प्रतिबिम्ब हो सकती है। इस प्रकार कथा के दो रूप होते हैं। एक वह जिसमें जीवन के अंग विशिष्ट अथवा कतिपय व्यापारो की प्रतिछाया हो और दूसरा वह जिसमे समस्त जीवन व्यापारो की परछाई चित्रित हो। जिसमे जीवन का खंड गृहीत होता है वह कहानी और जिसमें अखंड जीवन अंकित होता है वह उपन्यास के नाम से अभिहित होता है।

कहानी के तत्व

उपन्यास के समान कहानी के भी निम्न तत्व होते हैं—

(१) कथावस्तु (२) पात्र (३) कथोपकथन (४) शैली (५) उद्देश्य।

कथावस्तु

कहानी जीवन का खंड होने के कारण उसकी कथावस्तु छोटी होती है इसीलिये उसके गुंफन मे अधिक सतर्कता की आवश्यकता है। कथा ऐसी हो जो नई तो जान पडे पर अनहोनी न हो; रोचक हो, मनोभावो को स्पष्ट करनेवाली हो। वह इतनी संगठित हो कि उसमे एक भी शब्द भरती का प्रतीत न हो। उसका प्रत्येक शब्द, प्रत्येक वाक्य उद्देश्य की ओर ले जानेवाला होना चाहिये। प्रसिध्द आग्ल समीक्षक रिचार्ड्स ने कहानी में वस्तु-तत्व को बड़ा महत्व दिया है। वह कहानी को सृजनात्मक साहित्य का (Creative–Literature) बीज मानता है। नाटक और महाकाव्य की सृष्टि कहानी के बिना असंभव है। गीतिकाव्य में भी कहानी का प्रवेश संभव है। यदि कहानीकार में कौशल है तो वस्तु को आकर्षक रूप दे पाठक में सौंदर्य-सुख संचारित कर सकता है।

पात्र

कहानी में पात्रों का चरित्र-चित्रण बड़ी चतुराई से किया जाता है। उसमें विस्तार की गुंजाइश न होने से यत्र-तत्र सम्वादों में ही पात्रों के चरित्र का रहस्योद्घाटन हो जाता है। कहानी में जितने ही कम पात्र होते हैं, चरित्र-चित्रण उतना ही अधिक सफल होता है। पात्र ऐसे हों जो हमें अपरिचित न जान पड़ें; वे इसी धरती के प्राणी-हमारे चारों ओर चलने फिरने वाले-हों। दूसरे शब्दों में वे जीवन के बहुत सन्निकट हों! पात्रों के चित्रण के दो प्रकार प्रचलित हैं—एक में लेखक अपने को तटस्थ रखकर पात्र के व्यापारों तथा संभाषण से उसके चरित्र का उद्घाटन करता है, दूसरे में वह स्वयं उसके मन का विश्लेषण करता है। प्रथम प्रणाली में कथाकार पात्र के सम्बन्ध में किसी प्रकार की विवेचना नहीं करता। इसे नाटकीय प्रणाली कहा जाता है और दूसरी प्रणाली को जहां कथाकार पात्र की भावनाओं-कार्य-कलाप आदि की समीक्षा करता है और अन्त में स्वयं उसके चरित्र का निर्णायक बन जाता है, 'विश्लेषणात्मक प्रणाली' से संबोधित किया जाता है। कहानी में एक या दोनों प्रणालियों का प्रयोग हो सकता है। पर उसमें विस्तृत विश्लेषण के लिए क्षेत्र नहीं है। क्योंकि वह पूर्ण जीवन नहीं, जीवनांग का एक चित्र है।

कथोपकथन

कथोपकथन कहानी को रोचक बनाते हैं। वास्तव में इस तत्व के द्वारा ही कहानी आगे बढ़ती और अपने उद्देश्य को छूती है। पात्रों के चरित्र भी इसी से प्रकाशित होते हैं। कहानी में लम्बे सम्वादों से औत्सुक्य नष्ट हो जाता है; 'कथा' घर नहीं कर पाती। अतएव सम्वाद छोटे हों-चुस्त हों; लक्ष्य की ओर ले जाने वाले हों।

शैली–

शैली कहानी कहने के ढंग का नाम है! कहानी:—(१) आत्मचरित के रूप में कही जा सकती है मानो स्वयं कहानीकार अपने जीवन की कथा 'विशेष' कह रहा हो। कहानी की यह शैली "मैं" के साथ चलती है।

(२) इतिहास के रूप में कही जा सकती है जिसमें कहानीकार तटस्थ होकर घटनाओं का वर्णन करता जाता है। अधिकांश कहानियाँ इसी शैली में लिखी जाती हैं।

(३) डायरी और (४) पत्रों में भी कहानी कही जाती है।

शैली के अन्तर्गत कहानी कहने के ढंग के अतिरिक्त भाषा का भी विचार होता है। भाषा का रूप काव्यमय हो सकता है अथवा सरल — व्यावहारिक

भी। काव्यमय शैली में हिन्दी की प्रारंभिक कहानियां पाई जाती हैं। कहानियों में जीवन की वास्तविकता का आभास लाने के लिये पात्रों की सामाजिक स्थिति के अनुरूप भाषा का प्रयोग होना चाहिए।

उद्देश्य—

कहानी का स्पंदन है। वह केवल मनोरंजन हो सकता है; केवल शिक्षाप्रद अथवा दोनों भी। कहानी का लक्ष्य जीवन सम्बन्धी किसी रहस्य का उद्घाटन, समाज की किसी स्थिति विशेष की आलोचना अथवा विशिष्ट मानव प्रकृति पर प्रकाश डालना भी हो सकता है। मानव जीवन बड़ा जटिल है। अतएव उसकी जटिलता के किसी भी भाग पर चोट की जा सकती है। उसकी किसी भी ग्रंथि को खोला जा सकता है। उद्देश्य के अनुसार ही कहानी रोमांचकारी, विनोदी या करुण हो सकती है; उपदेश या मनोरंजन प्रधान हो सकती है। अच्छी कहानी में उपदेश उसकी मनोरंजकता को नष्ट नहीं करता; वह 'ओट में रहकर धीमे स्वर में बोलता है। 'पो' कहता है—पहले यह सोच लो कि तुम किस प्रभाव को उत्पन्न करना चाहते हो। बस उसी के आधार पर पात्र और घटनाओं को चुन लो; कहानी बन जायगी।

कहानी भी अन्य कलाओं की भांति सौंदर्यानुभूति की अभिव्यक्ति है। और कहानीकार की यह अनुभूति जितनी ही गहरी होती है वह जीवन के रहस्य को—सत्य—को उतने ही संयत रूप में व्यक्त करता है। सौंदर्यानुभूति को ही बर्नार्ड शा सरस अनुभव कहते हैं! वस्तु—जगत जब कहानीकार के हृदय में भावजगत बन जाता है, जब वह अपने समाज के जीवन-व्यापारों में तादात्म्य स्थापित कर लेता है तभी वह आनंद से विभोर होता है और इसी विभोरता को हम सरस अनुभव कह सकते हैं। यही कहानी का सत्य है और सत्य ही सुन्दरम् है! कहानीकार जब अपने मन की बात कहता है तभी कहानी में प्रभाव उत्पन्न करने की क्षमता पैदा होती है। अनुभूत सत्य को व्यक्त करने में संयम की आवश्यकता होती है! जो सत्य जन—मन को उन्नत करता है; उसे भुलाता नहीं—जगाता है। वही अभिव्यक्ति का उद्देश्य होना चाहिये! प्रेमचंद ने उचित ही लिखा है, संयम में शक्ति है और शक्ति ही आनन्द की बुनियाद है! '

इस प्रकार कहानी का उद्देश्य केवल कहानी कहना ही नहीं है कहानी के द्वारा हमें भी कुछ कहना है। और यह 'कुछ' इस ढंग से कहा जाय कि हमारा अन्तर्मन अनजाने उसे ग्रहण कर मुग्ध हो उठे—आनन्द से भीग उठे।

उद्देश्य के अनुसार ही कहानी के दो रूप हमारे सामने आ जाते हैं। वे हैं—यथार्थवादी और आदर्शवादी। यदि कहानीकार का लक्ष्य या उद्देश्य जीवन का

यद्यपि हमारे प्राचीन साहित्य में कहानी की सुन्दर परंपरा विद्यमान है तो भी हिन्दी-कहानी का विकास उस परंपरा की कड़ी नहीं है। वह पाश्चात्य कहानी-कला से प्रेरित एवं पोषित है।

पश्चिम में आधुनिक कहानी १६ वीं शताब्दी की देन है। वहाँ की औद्योगिक क्रांति (Industrial Revolution) ने जनता के जीवन और परिणामतः साहित्य को प्रभावित कर कहानी को नई गति, नई टेकनिक और नई विचार-धारा प्रदान की। जीवन-संघर्ष की तीव्रता के कारण जनता के पास साहित्य-विलास के लिए समय का अभाव रहने से छोटी कहानी का जन्म हुआ। अमेरिका, फ्रान्स और रूस में उसका प्रारंभ हुआ। अमेरिकन कथाकार 'पो' ने सर्व प्रथम प्रभाव और लक्ष्य की एकता पर ज़ोर दिया। रूसी कथाकार तुर्गनेव, गोर्की और टालस्टाय ने उत्पी ड़ितों के प्रति सहानुभूति प्रकट कर कहानी को जनता के अधिक सन्निकट लाने का यत्न किया। फ्रान्सीसी लेखकों, विशेष कर ज़ोला और मोपासाने उद्देश्य, प्रभाव और नाटकीयपन के समन्वय के साथ एक घटना, एक पात्र और एक दृश्य से प्रभावित कहानियां लिखी। उनका जीवन के एक पहलू (Phase) का चित्रण बड़ा सुन्दर बन पड़ा है। पाश्चात्य कहानी-साहित्य का प्रभाव भारतीय साहित्य पर सीधा पड़ा है। बँगला में उसकी छाया से बंगाली कहानी का रचनातंत्र अधिक आकर्षक हो गया था। अतः हिन्दी कथा साहित्य सबसे पहिले उसीसे उच्छ्वसित होने लगा। यों ऐतिहासिक दृष्टि से इंशाअल्ला की रानी केतकी की कहानी हिन्दी की प्रथम कहानी मानी जाती है परंतु उसमें आधुनिक कहानी-तत्वों का समावेश नहीं है। गहमरी की बंगला से अनूदित जासूसी कहानियों के बाद किशोरीलाल गोस्वामी की सरस्वती में लगभग सन् १६०० में प्रकाशित 'इन्दुमती' हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी मानी जाती है। उसके बाद पं० रामचन्द्र शुक्ल की 'ग्यारह वर्ष का समय' प्रकाशित हुई। बंग महिला की 'दुलाई वाली' कहानी अधिक मार्मिक और भाव प्रधान है। जयशंकर प्रसाद ने कल्पना और भावुकता को लेकर 'इंदु' में जो कहानियाँ प्रकाशित की हैं वे अपना अलग ही मार्ग इंगित करती हैं। हास्य रस की कहानी का प्रारंभ बाद में जी० पी० श्रीवास्तव के द्वारा हुआ। सन् १६१३ में पं० विश्वम्भर नाथ शर्मा कौशिक की रक्षाबंधन कहानी की ओर हिन्दी जनता का ध्यान आकर्षित हुआ। उनके गृहस्थ जीवन के चित्र यथार्थता के अधिक सन्निकट हैं। इसी काल में राजा राधिका रमण सिंह, पं० ज्वालादत्त शर्मा, पं० चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' आदि का कहानी-क्षेत्र में प्रवेश होता है। श्री प्रेमचन्द्र की कहानियाँ सं. १६७३ में प्रकाशित होने लगीं। प्रेमचंद्र ने गांधीयुग से प्रभावित

हो अपनी कहानियों में ग्रामीण उत्पीड़ित जनता के जीवन का मर्मस्पर्शी चित्रण किया। काव्यात्मक कहानी लिखने की ओर चंडीप्रसाद 'हृदयेश' पहिली बार उन्मुख हुये। संभवत: वे संस्कृत की आख्यायिकाओं की शैली हिन्दी में प्रचलित करना चाहते थे। इसी युग में सुदर्शन, उग्र; जैनेन्द्रकुमार, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, भगवतीचरण वर्मा, अज्ञेय, अन्नपूर्णानंद वृन्दावनलाल सुभद्रा, इलाचंद्र, मोहनसिह आदि सामाजिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक विषयों को लेकर अवतीर्ण हुये। आज के प्रगतिवादी लेखकों में यशपाल, पहाड़ी, रांगेय राघव आदि जीवन की यथार्थता को उसके नग्न रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं। आज की कहानी एक ओर 'फ्राइड' के यौनवाद से और दूसरी ओर कार्ल मार्क्स के साम्यवाद से अनुप्राणित हो रही है। इसमें संदेह नहीं, रचना तंत्र की दृष्टि से वह उत्तरोत्तर जीवन के सन्निकट होती जा रही है। बहुत संभव है, कहानी जीवन के इतने नजदीक पहुँच जाय कि मानव-चरित्र और कहानी में कोई भेद ही न रह सके। इसी से कहानी के एक अंग रेखा-चित्र के पल्लवित होने की बड़ी संभावना है। क्योंकि रेखा-चित्र में कल्पना नहीं; प्रत्यक्ष जीवन का चित्र होता है। अंग्रेजी में गार्डिनर के रेखा-चित्र बहुत प्रसिद्ध हैं। हिन्दी में सर्वश्री बनारसीदास चतुर्वेदी, श्रीराम शर्मा (संपादक, विशाल भारत) रामवृक्ष बेनीपुरी, प्रकाशचन्द्र गुप्त आदि इस कला के रूप को भिन्न भिन्न प्रकार से सँवार रहे हैं।

आधुनिक हिंदी-साहित्य की प्रवृत्तियाँ :४:

"हो गओ फिरंगी को राज रे
अब डर नैया काऊ को"

इस बुन्देलखन्डी लोक-गीत में अंगरेजी राज्य की पूर्ण स्थापना और उससे उद्‌भूत निश्चिन्त वातावरण में साँस लेनेवाली जन-भावना का आभास मिलता है। १६ वीं शताब्दी के अंतिम प्रहर में देश की यही स्थिति थी! स्थिरता के जीवन में हिन्दी-साहित्य विभिन्न दिशाओं की ओर अभिमुख हुआ। "हरिश्चन्द्र काल" विभिन्न दिशाओं के रेखाचिह्न मात्र छोड़ गया था। द्विवेदी-काल में उन्होंने निश्चित पथ का रूप धारण किया। गद्य के क्षेत्र में निबन्ध, कहानी, उपन्यास, नाटक, जीवन चरित्र आदि की सृष्टि होने लगी और कविता ने "ब्रज की अँगिया फरिया" त्याग कर 'नील निचोल' धारण किया और उसका स्वर 'बेला फूले आधीरात गजरा केहि के गरे डारों' का गीत भूल गया। वह रोमांस, वह मस्ती भी वह भूल गई जो होली के पखवाड़े में पातिव्रत 'ताखें' रखने को मजबूर करती थी। वह ठण्डे दिमाग से सोचने लगी—

'हम कौन थे क्या हो गये हैं, और क्या होंगे अभी ?
आओ विचारें बैठकर, ये समस्याएं सभी।'

'भारत—भारती' की इसी भावना ने द्विवेदी-युग के साहित्य को अभिभूत किया। भूले भटके 'शंकर' की दृष्टि कज्जल के कूट पर शोभित होनेवाली 'दीपशिखा' पर भले ही चली गयी हो या 'आचार्य' ने परमी नारी का 'मंद मंद मुस्काना' भी देख लिया हो, पर साहित्य की प्रवृत्ति नीति के जहाज से नीचे नहीं उतरी। इस नीति में धर्म की बाह्य व्याख्या नहीं थी, था स्वस्थ तर्क पूर्ण चिंतन; प्राचीन सामाजिक रूढ़ियों और मान्यताओं के प्रति बौद्धिक आस्था तथा भारतीय संस्कृति के "शिवम्" के प्रति पूर्ण आस्तिकता का अपनाव। देश में राष्ट्रीयता ने इसी काल में अँगड़ाइयाँ लेकर आँखें खोलीं। राष्ट्रीय महासभा ने जनता में स्वदेश और स्वदेशी के प्रति प्रेम उत्पन्न कर दिया था। बाहर था शासन

का आतंक और भीतर थी चैतन्य भावनाओं की निःस्तताकुल रुँधी हुई आवाज़! इस विरोधी संघर्षमय वातावरण में साहित्य का इतिवृत्तमय हो उठना अस्वाभाविक नहीं था। उसने भूतकाल से प्रेरणा ग्रहण करना अधिक निरापद समझा। परिणामतः पुराण और इतिहास ही विशेष रूप से प्रतिध्वनित होने लगे। वह नपी-तुली बोली में चिंतन का 'इतिवृत्त' बन गया। इसी बीच महात्मा गांधी के राजनीति में प्रविष्ट होते ही देश का शरीर मानों पूर्ण रूप से झकझोर उठा, शिक्षित युवकों ने अपने ही अतीत को नहीं; दूसरों के अतीत और वर्तमान को भी देखा। किसी ने पास ही पूर्व प्रान्त से सुना—

"आमि चञ्चल हे,
आमि सुदूरेर पियासी
सुदूर विपुल सुदूर तुमि ये बाजाओ व्याकुल बांशरि
मोर गना नाइ आछि एक ठाँइ से कथाये थाइ पाशरि

(मैं चंचल हूँ। मैं सुदूर का प्यासा हूँ, हे सुदूर, हे विपुल सुदूर! तुम बाँसुरी में व्याकुल स्वर बजा रहे हो और मेरे पंख नहीं हैं; मैं एक ही स्थान पर बँधा हुआ हूँ।")

और किसी के हृदय में पश्चिम की ध्वनि गूँज उठी:—

"मैं स्वर्गीय संगीत सुनने को व्याकुल हो रहा हूँ, उसकी प्यास में मेरा हृदय मुरझाये हुए फूल के समान हो रहा है। मतवाली शराब की भाँति उसमें स्वर उँडेल दो। चाँदी की वर्षा के समान स्वरों को बहने दो" बस; स्वर्गीय संगीत की प्यास ने हिन्दी में उस युग को जन्म दिया जो छायावाद और रहस्यवाद के नाम से आख्यात हुआ। द्विवेदी-युग की प्रतिक्रिया इसमें स्पष्ट रूप से झलकने लगी। कभी शेली की 'Skylark' के समान कवि नील गगन में इतने दूर उड़ने लगा कि उसे अपने घोसले में अधखुली आँखों से उसकी प्रतीक्षा करनेवाले किसी प्राणी का स्मरण ही नहीं रहा और कभी वह 'वर्डसवर्थ की 'Sky lark' बन गया जिसे असीम आकाश की नीलिमा तो भाती ही थी, घोंसले की सीमा में लौट आने की आसक्ति भी व्याकुल बनाती थी। यह युग रोमांचकारी काव्य का था, जिसने साहित्य के सभी अंगों को आच्छादित कर दिया। छायावाद क्या है; इसकी व्याख्या इसी के आचार्य के शब्दों में यह है:— "कविता के क्षेत्र में पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश-विदेश की किसी सुंदरी के बाह्यवर्णन से भिन्न जब वेदना की अभिव्यक्ति होने लगी, तब हिन्दी में उसे छायावाद के नाम से अभिहित किया गया।' 'छाया' भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक विधान तथा

उपचार वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति छायावाद की विशेषतायें हैं।" उनका विश्वास था—"अपने भीतर से मोती के पानी की तरह आंतर स्पर्श करके भाव समर्पण करनेवाली अभिव्यक्ति 'छाया' कान्तिमयी होती है और परोक्ष सत्ता का अनुभव करने की ललक रहस्यवादिनी कविता का प्राण होती है।" इस युग के पद्य में अन्तर-वेदना की लाक्षणिक अभिव्यक्ति की प्रधानता तो पाई गयी पर रहस्य के प्रति रुचि—जिज्ञासा—बहुत कम और उसका सान्निध्य तो लगभग शून्य ही प्रतीत हुआ। शुक्लजी के शब्दों में Psudo mysticism नकली रहस्यवाद का ही साम्राज्य रहा। इस युग के काव्य में अनुभूति की ईमानदारी कम, बुद्धि का विलास अधिक रहा। साहित्य में क्रोशे के अभिव्यंजनावाद को विशेष रूप से अपनाया गया जिसमें अभिव्यक्ति ही सब कुछ है—अनुभूति का प्रभाव तथा अर्थ आदि का विचार अनावश्यक है। कविता ही नहीं; कथा, नाटक, निबंध, आलोचना सभी क्षेत्रों में रचनातंत्र [टेकनिक] के नये नये प्रयोगों की ओर साहित्यकारों की प्रवृत्ति पायी जाती है। ज्ञानदास के निम्नपद से आलोच्य युग की काव्य—भावधारा का पूर्ण परिचय हो जाता है—"रूपेर पाथारे आँखि डुबिया रहिल यौवनेर वने पथ मन हाराइल।" [रूप के जलधि में आंखें डूबी रहीं और यौवन के वनपथ पर मन भटकता रहा।] हां, भावाभिव्यक्ति के रूपों में विभिन्नता अवश्य पायी गई। मुक्त छंद के अतिरिक्त नये छंदों में भी कविता प्रवाहित होने लगी। मुक्त छंद के प्रचलन के साथ रवींद्रनाथ ठाकुर की गीताञ्जलि, माली आदि की शैली पर ऐसे गद्य काव्य का भी प्रचलन हुआ; जिसमें एक भाव की ध्वनि भरी जाती है। कथा-साहित्य पर भी पाश्चात्य कथाकारों का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।

"God's in His heaven,
Alls' Well with the world"

परमात्मा स्वर्ग में आनन्द से है, संसार भी अपनी गति से मज़े में चला जा रहा है—की विचार-लहरी ने कथा में इसी लोक को महत्त्व दिया। दूसरे शब्दों में कथाकार ने अपने इन्द्रियगम्य सृष्टि के उपकरणों से अपनी कथा को सँवारना चाहा पर वह सृष्टि में सुन्दर—असुन्दर और पाप-पुण्य की भावना से सर्वथा मुक्त नहीं हो सका। मनुष्य को उसकी दुर्बलताओं तथा सामर्थ्य के साथ चित्रित करना उसने स्वीकार तो किया पर मनुष्य-रूप ही देखकर उसकी आँखों की प्यास नहीं बुझ सकी, उसमें नरश्रेष्ठ [Superman] देखने की भी चाह बनी रही। अतः कथा—साहित्य में असत् पर सत् की—नर पर नर श्रेष्ठ की विजय प्रतिष्ठित की गयी।

नाटकों में भरत के नाट्य शास्त्र की नियम-शृंखला को शिथिलतर करते हुए नाटककार ने स्वाभाविकता [naturalness] का आश्रय लिया

जिससे उसके रचना-तंत्र का ढाँचा ही बदल गया। पौराणिक गाथाओं से प्रेरणा कम ली गयी, समाज के भूत कालीन तथ्यों (इतिहास) और वर्तमान स्थितियों की ओर अधिक रुझान दीख पड़ी। 'टेकनिक' में जहाँ बाह्य रूप (अंकसंख्या, सूत्रधार, विदूषक, भरत-वाक्य, नांदी; पद्यमय संभाषण आदि) में परिवर्तन स्वीकार हुआ वहाँ मनोभावों के द्वंद्वों पर भी दृष्टि जमी रही—अन्तर्द्वन्द्व को नाटक का प्राण माना जाने लगा। संवादों में तुकबंदी का बहिष्कार तो हो गया पर नाटकों में काव्य का सम्पर्क बना ही रहा। समस्यामूलक नाटकों की इब्सन, शॉ, गेल्सवर्दी आदि की शैली में सृष्टि हुई, पर उनमें समस्याओं का इतिवृत्तात्मक भाषा में चित्रण प्राय: नहीं हुआ। हमारे इब्सनवादियोंने भी काव्य-भावना का सर्वथा तिरस्कार नहीं किया। संगीत का अभी तक प्रचलन बंद नहीं हुआ। हमारे नाटककारों ने संगीत को जीवन के अभिनय में अनैसर्गिक नहीं माना पर अभी शॉ, डकन आदि नाट्य कारों की नाई उनमें ऐसा तीखा व्यंग जिससे समाज तिलमिला उठे, नहीं आ पाया।

आलोचनाओं में व्यक्तिवाद का प्राधान्य पाया जाता है। वे शास्त्रीय कम, प्रभाववादिनी अधिक हैं। कहीं कहीं तो वे गद्य काव्य की सीमातक पहुँच गयी हैं। गुण–दोष विवेचन की अपेक्षा उनमें या तो गुण ही सर्वोपरि दिखलाये जाते हैं या दोषोंको उभार-उभारकर प्रस्तुत किया जाता है। अब द्विवेदी-युग के समान शास्त्रीय और तुलनात्मक समीक्षा के दर्शन प्राय: नहीं होते। मार्क्सवादी आलोचनाओं में परीक्षण की एकांगिता चिंतनीय है।

आधुनिक हिंदी साहित्य की वर्तमान (प्रगतिवादी) धारा की मोड़ लगभग सन् १६३५ से लक्षित होती है, जब यथार्थ जगत से क्रमश: Superman (नरश्रेष्ठ) को ढकेलकर नरजाति की ही प्रतिष्ठा की जाने लगी और उसमें भी उसकी जो शोषित है, उत्पीड़ित है, दीन है, हीन है। साहित्य पुन: अन्तर से बाहर की ओर अभिमुख होने लगा। द्वितीय यूरोपीय महायुद्ध के बाद से आंग्ल कविता में जीवन का ठोस सत्य झाँकने लगा है।

> "Unreal City,
> Under the brown fod of winter dawn,
> A crowd flowed over London bridge,
> I had not thought death had
> —undone so many"
>
> [T. S. Eliot]

वह आकाश के तारक लोक से उतरकर नगर की गलियों और ग्राम की झोपड़ियों में कराहनेवाली मानवता को देखने लगी। इतना ही नहीं, दूकानों

के 'शो केस' में रखे हुए चप्पलों पर भी कवियों की दृष्टि ठहरने लगी। वस्तु का निरपेक्ष दर्शन काव्य का एक महत्वपूर्ण गुण समझा जाने लगा । आज के कवि ने दृष्टि-परिधि में आनेवाले सभी पदार्थों में रंजनकारी तत्व खोज निकाला है। बहुत समय के बाद रूस आदि देशों से छनकर यह वस्तुवाद की लहर इस देश में भी बहने लगी है। परिणामत: हमारे साहित्य का वर्तमान कवि भी, कहा जाता है, त्रयोदशी की रजनी में अशोक को किसी मदिराक्षी के चरण स्पर्श से पुष्पित कर मदनोत्सव नहीं मनाता और न वह अपने ही आँसुओं में रहरहकर जलना या गलना चाहता है। अनन्त का स्पर्श भी वह भूल गया है, उसे अब मिल के भोंपू खूब सुन पड़ते हैं। कहारिन की बिमाईभरी एड़ी और हथेलियों में कविता दिखलाई देने लगी है। यह प्रवृत्ति साहित्य के सभी अंगों पर छा गयी है। प्राचीन का सब कुछ उसे अरुचिकर प्रतीत होने लगा है। परन्तु इन समाज या प्रगतिवादियों की भी दो श्रेणियाँ दीख पड़ती हैं। एक तो वह जो छायावाद की रंगीनियों का मोह न छोड़ 'रोमांच' से अभीतक सिहरती ही जाती है और दूसरी वह जो बिलकुल यथार्थ का जीर्ण-शीर्ण अंचल पकड़े हुए है।

अधिकांश प्रगतिवादी कथा-साहित्य विवस्त्र होकर निराश्रित शरणार्थी सा बन गया है जिसे देखकर दया होती है, क्षोभ पैदा होता है। नग्नवाद के साथ ही स्वस्थ मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की प्रवृत्ति भी कुछ उपन्यासों में दीख पड़ती है।

नाटकों की दिशा में एकांकियों का प्रचलन इस काल की विशेषता है। रेडियो, चित्रपट आदि की सुविधा की दृष्टि से उनके रचनातंत्र में विविधता आगयी है। वे जीवन के अधिक सन्निकट होते जा रहे हैं।

निबन्ध भी कला का रूप धारण करने लगे हैं। उनमें गम्भीर विवेचन की अपेक्षा आत्मानुभव की झाँकियाँ अधिक हैं।

सन् १९४७ से भारत स्वाधीन हो गया है। अत: अब साहित्य में पुन: एक बार भारतीयकरण की लहर दौड़ने लगी है। पौराणिक संस्कृति, आचार-विचार और भाषा को नवीन दृष्टिकोण प्रदान करने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। 'कृष्णायन', 'महाभारत', 'कुरुक्षेत्र', 'शर्विणी', आदि की सृष्टि इसी दिशा के प्रयास हैं। ये शुभ लक्षण हैं। देश साहित्य से जीवन की माँग कर रहा है ऐसा जीवन जो अपनी अपूर्णता में पूर्ण हो और पूर्ण होकर भी अपूर्ण बना रहे। अर्थात जो हममें निरापद महत्वाकांक्षा भरकर हममें ज्ञान और भाव की आलोकराशि जगाकर जन-जन का पथदर्शन कर सके।

छायावाद-युग के बाद का हिन्दी-साहित्य : ६ :

छायावाद-युग के बाद से हमारा साहित्य विशेष दिशा की ओर अभिमुख हो गया है। उसमें व्यक्ति का स्थान समष्टि ने ले लिया है। दूसरे शब्दों में, कल साहित्यकार में समाज समाया हुआ था, आज समाज में साहित्यकार समाया हुआ है। वह समाज का पृथक अंग नहीं, समाज का ही अंग बन जाना चाहता है। इसीलिए वह एकांत प्रदेश में जाकर तारों भरी रात के नीचे यह नहीं गाता—

'आह ! अन्तिम रात वह, ' बैठी रहीं तुम पास मेरे,
शीश कन्धे पर धरे; घन कुन्तलों से गात घेरे।
क्षीण स्वर में कहा था "अब कब मिलेंगे—
आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे ?" (प्रवासी के गीत)

व्यक्ति का यह रुदन और अभिसार उसे नहीं सुहाता। उसने 'पन्त' के शब्दों में कला का मापदण्ड ही परिवर्तित करलिया है—

"अब तो सुन्दर शिव सत्य कला के कल्पित मापमान।
बन गये स्थूल जग जीवन से हो एक प्राण ॥"

इसीलिये वह अब कोयल की 'कुहू' नहीं सुनना चाहता; सुनना चाहता है मिल का भोंपू; लारी की खड़-खड़ भर-भर। अब आसमान से ओस पत्तों पर गिरकर 'मोती' नहीं बनती—मोती बनते हैं खेतों में कृषक-किशोरी के कपोलों पर झलकने वाले स्वेदकण। गरज़ यह कि, हमारा साहित्यकार सोने की स्वर्ग-कल्पना से उतरकर जगत की लोहे-मिट्टी की वास्तविकता को समझना चाहता है।

सन् १९३४ की एक शाम को लन्दन की किसी होटल में आनन्दमुल्कराज, सज्जाद ज़हीर आदि चार-पाँच भारतीयों ने मिलकर एक संघ की स्थापना की जिसका उद्देश्य संसार की प्रगतिशील प्रवृत्तियों को साहित्य में प्रश्रय देना था। उसके दो वर्ष बाद लखनऊ में स्वर्गीय प्रेमचन्दजी के सभापतित्व में इस प्रगतिशील संघ की स्थापना हुई। यहाँ हमें जान लेना चाहिये कि प्रगतिशील या प्रगतिवादी साहित्य शब्द किन अर्थों में व्यवहृत हो रहा है।

'प्रगतिवादी साहित्य' वह कहलाता है जिसमें (१) रोमानी या रोमांचकारी

युग की वर्जुआ अथात सामन्त-वाणी का परित्याग हो और मजदूरों के राज्य की जय-घोषणा हो। (२) किसानों की विजय और जमींदारों के पराजय की स्वीकृति हो और (३) नारी की स्वच्छन्द प्रवत्तियों का उल्लसित स्वागत हो।

अंग्रेज़ी में इस प्रकार के साहित्य को Progressive Literature कहते हैं और मराठी में पुरोगामी वाङ्मय। साहित्य की यह लहर गत यूरोपीय महायुद्ध के पश्चात रूस में प्रबल वेग से उठी थी। ज़ारशाही से ऊबकर वहां की जनता ने क्रांतिपथ पर चलकर जब अपना ही राज्य कायम किया तब उसे स्वभावतः अभिजातवर्ग के साहित्य से, जिसमें उसकी मनोवृत्तियों को सहलाया जाता था, घृणा हो गई। जन-समूह ने उसी साहित्य को पसन्द किया जिसमें उसीके याने सर्वहारा वर्ग के गीत गाये जाते थे। इसीसे रूस में शेकॉव की अपेक्षा गोर्की अधिक लोकप्रिय हुआ क्योंकि उसने शेकॉव के समान मध्यम श्रेणी के समाज का चित्रण न कर निम्न वर्ग को अपनाया था।

परन्तु जब रूस और अन्य पाश्चात्य देशों में 'वस्तुवाद' प्रबल हो रहा था तब हमारा साहित्य, विशेषतः काव्य-साहित्य, 'खय्याम' के नशे में किसी तरु तले लेटा शीतल समीरण के झोंके खा रहा था, पार्श्ववर्ती साकी अपनी अधमुँदी आँखों से आसव का प्याला लिये उसे पिला रही थी। हिंदी में रोमांचवाद का वह युग छायावाद, रहस्यवाद, हालावाद प्रतीकवाद आदि नामों से पहचाना जाता है। लगभग सन् १९२२ से सन् १९३५ तक हिंदी के पद्य-साहित्य में इसी का दौर-दौरा रहा, परन्तु कथा-साहित्य में प्रेमचन्द के प्रादुर्भाव ने वास्तववाद को अधिक प्रश्रय दिया। उन्होंने निम्न श्रेणी के पात्रों—किसानों—को अपनाया। उनके सुख-दुख का साहित्य में चित्रण किया। (प्रेमचन्द के पूर्व-वर्ती कहानीकार प्रायः अभिजात्य वर्ग से अपने पात्र चुनते थे।) इसी से आज उनकी गणना हिंदी के प्रगतिशील साहित्यकारों में बड़ी धूमधाम से होती है।

कविता के क्षेत्र में पन्त को—

'जागो श्रमिको' बनो सचेतन।
भू के अधिकारी हैं श्रमजन।'

की घोषणा करने के कारण प्रगतिशील कवियों में अग्रणी माना जाता है परन्तु जिस अर्थ में प्रगतिशील कविता आज समझी जाती है उसका श्रीगणेश श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने वर्षों पहले किया था। उनकी 'कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ' तो बहुत प्रसिद्ध रचना है। नीचे उनकी 'जूठे पत्ते' शीर्षक कविता की कुछ पंक्तियाँ दी जाती हैं, जिनमें मार्क्सवादी साहित्य के समान ईश्वरवाद को गहरी ठोकर दी गई है—

'लपक चाटते जूठे पत्ते
जिस दिन मैंने देखा नर को !
उस दिन सोचा क्यों न
लगा दूँ आज आग इस दुनियाँ भर को
यह भी सोचा क्यों न
टेंटुआ घोंटा जाय स्वयं जगपति का ?
जिसने अपने ही स्वरूप को
रूप दिया इस घृणित विकृति का
जगपति कहाँ ? अरे सदियों से
वह तो हुआ राख की ढ़ेरी !
वरना समता संस्थापन में
लग जाती क्या इतनी देरी !
छोड़ आसरा अलखशक्ति का !
रे नर स्वयं जगतपति तू है !
तू गर जूठे पत्ते चाटे तो
तुझ पर लानत है—थू है !
कैसा बना रूप यह तेरा,
घृणित, दलित, वीभत्स, भयंकर !
नहीं याद क्या तुझको,
तू है चिरसुन्दर, नवीन, प्रलयंकर !
भिक्षापात्र फेंक हाथों से,
तेरे स्नायु बड़े बलशाली !
अभी उठेगा प्रलय नींद से,
जरा बजा तू अपनी ताली !'

आज अनेक नवयुवक अपनी रचनाओं में मज़दूर, किसान, इन्किलाब आदि के नारे लगाकर अपने को प्रगतिशील कहलाने में गर्व का अनुभव करते हैं। देश के कृषक-मज़दूरों का जागरण किसे नहीं सुहाता ? पर प्रश्न यह है कि जिन कृषक और मज़दूरों के लिये गीत लिखे जाते हैं वे उन्हें समझ भी सकते हैं ? इन गीतों की भाषा और इनकी रचना-शैली कई बार उलझन पैदा करने वाली होती है। इसके अतिरिक्त इन रचनाओं में अनुभूति की गहराई का तो प्रायः अभाव ही रहता है। ऐसे कितने प्रगतिशील कवि हैं जिन्होंने कृषक और मज़दूरों सा जीवन व्यतीत किया है या उनके साथ एक होकर सुख-दुख को अपने हृदय में उतारा है ? इसी से अधिकाँश प्रगतिशील कहलाने वाली कवितायें शुष्क, निष्प्राण और सिद्धांत-प्रचारक

सी लगती हैं। उनमें 'नवीन' के 'जूठे पत्ते' जैसी ठेस लगी नहीं दीख पड़ती। अभिव्यंजना की दृष्टि से उनमें कुछ नयापन भले ही हो किन्तु विचार-परम्परा का दायरा बहुत संकुचित है! ऐसा प्रतीत होता है, हमारा कवि-समुदाय आकाश के तारे गिन गिन थक गया है और अब वह सड़क के कंकड़ गिनने लगा है।

मनुष्य की अनुभूतियाँ दो प्रकार की होती हैं जो (१) सौन्दर्य-मूलक और (२) कार्य-मूलक कहलाती हैं। आज का कवि दूसरी वृत्ति से अधिक काम लेता है। इंग्लैंड में कविता की वर्तमान गति का सिंहावलोकन करते हुए एक अंग्रेज़ आलोचक ने लिखा था "गत पच्चीस-तीस वर्षों में आँग्ल साहित्य में टी० एस० ईलियट को छोड़कर ऐसा कोई कवि नहीं हुआ जो अपनी छाप भविष्य में छोड़ जायगा।" इसका कारण यह है कि प्रगतिवादी कविताओं में प्रेरणा नहीं, प्रयास होता है! आत्मानुभूति नहीं, ज्ञानसंचय होता है। इसीसे उनके स्थायित्व में सन्देह है।

कहानी-साहित्य में हमारे कथाकारों में प्रगतिशीलता दूसरे ही रूप में प्रविष्ट हुई है। उसका विश्लेषण करने से उसकी दो श्रेणियाँ दीख पड़ती हैं। पहिली में ऐसे कथित साम्यवादी हैं जो धन के समान ही नारी को भी सबकी सम्पत्ति समझते हैं। वे ऐसे युग का स्वप्न देख रहे हैं जब लावण्य भरी नारी पर किसी एक पुरुष का आधिपत्य न रह जायगा। रूस में क्रान्ति के प्रारम्भिक दिनों में लैंगिक स्वातंत्र्य अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था जिसकी कल्पना एक विदेशी लेखक के इस वाक्य से हो जाती है—

"In a communist society, gratification of sexual impulse, of erotic needs, is as simple and as insignificant as drinking a glass of water".

कहीं भी एक ग्लास पानी पी लेने के समान आसान मानी जाने वाली लैंगिक स्वाधीनता की ओर यदि कोई वहाँ अंगुली उठाता तो वह "पेटी बुर्ज़ुवा" कहकर झकझोरा जाता था। ऐसे लेखकों पर 'रसेल' की नारी-स्वच्छन्दता-नीति का भी कम प्रभाव नहीं पड़ा!

दूसरी श्रेणी में वे कथाकार आते हैं जो फ्राइडवादी हैं; जो काम के आवेग को जीवन की प्रेरणा का कारण मानते हैं। प्रगतिवादियों का कहना है कि स्त्री-पुरुषों को यौन-अधिकारों की समानता होनी चाहिये। जब पुरुष ब्रह्मचारी नहीं रह सकते, तो स्त्रियाँ ही क्यों एक पुरुष की अनुगामिनी बनी रहें? इसीलिये रूस में गर्भपात वैध माना गया और अनैसर्गिक उपायों से गर्भ-निरोध का प्रचार किया गया। रूस में साम्यवादियों ने

'नारी' के मातृत्व के बन्धन को निर्बन्ध बना कर उसे ऐसा कौन सा गौरव प्रदान किया है जो प्रगतिवादियों में प्रेरणा भरने का कारण है? प्रतीत होता है, ऐसे लेखकों पर रसैल की नारी स्वच्छन्दता-नीति का भी प्रभाव पड़ा है।

दूसरी श्रेणी में वे कथाकार आते हैं जो फ्राइडवादी हैं, जो काम के आवेग को जीवन की प्रेरणा का कारण मानते हैं। उनके मत से स्त्री, मां बहिन, पत्नी, चाहे जिस सामाजिक नामसे पुकारी जाय, पुरुष के लिए वस्तुत: नारी है। इसी प्रकार पुरुष समाज में पिता, भाई, पति आदि किसी भी नाम से पहचाना जाय, स्त्री के लिये वस्तुत: पुरुष ही है। सभी स्त्री-पुरुषों के आकर्षण के मूल्य में काम-वासना ही है। मनोविश्लेषण की इसी परम्परा ने हिन्दी में कुछ ऐसे उपन्यासों को जन्म दिया है, जिनमें मानव-स्वभाव की मूल, और सँस्कृत-प्रवृत्ति की हत्या की गई है, और विकृत-मस्तिष्क के क्रीड़ा-कलाप को उभारकर प्रस्तुत किया गया है।

नाटकों में प्रगति-शीलता का रूप उनके रचना-तन्त्र (टेकनीक) में बहुत ही स्पष्टता से दीख पड़ता है। समस्या-मूलक नाटकों की ओर स्वाभाविक-रुचि दीख पड़ती है। एकांकी-नाटकों का प्रणयन भी सोत्साह हो रहा है। शिक्षा-संस्थाओं में उत्साही विद्यार्थियों द्वारा हिन्दी के आधुनिक नाटकों का, रंग-मंच पर यदा-कदा अभिनय ज़रूर हो जाता है, पर अभीतक हिन्दी में व्यवसाय की दृष्टि से सतत चलने वाले रंग-मंच का अवतरण नहीं हुआ है, और अब सवाक चल-चित्रों के युग में उसके प्रादुर्भूत होने की निकट-भविष्य में कोई सम्भावना भी नहीं दीखती।

आलोचना-क्षेत्र में साहित्य को परखने के दृष्टिकोण में अन्तर आरहा है। पहले जहां मनोभावों के घात-प्रतिघात देखे जाते थे, वहां अब देखा जाता है-"इस रचना में वर्ग-संघर्ष कहां तक हुआ, और सर्वहारा समुदाय की, सर्व शोषक वर्गपर विजय दिखलाई गई है या नहीं?" प्रभाववादी आलोचना यद्यपि मरी नहीं है, पर उसका प्रभाव ज़रूर कम हो गया है। फ्रान्स में एक जमाना था जब ऐसे आलोचकों की आलोचनाएँ बड़े चाव से पढ़ी जाती थीं, क्योंकि उनमें कहानी सा आनन्द आता था।

गद्य-काव्य का स्थान अब रेखा-चित्रों ने ले लिया है, जिनमें किसी व्यक्ति, स्थल, कार्य, व्यापार का बाहरी चित्रण किया जाता है। छायावाद-युग में, रवीन्द्र की 'गीताञ्जलि' ने हिन्दी में कई गद्य-काव्य लेखकों को प्रेरित किया था। हिन्दी में निबंध-साहित्य के और भी अधिक पुष्ट होने की आवश्यकता है। व्यक्तिगत अनुभवों को फड़कती हुई भाषा में इन दिनों लिखने की प्रवृत्ति बढ़नी चाहिए।

आज का साहित्य सचमुच प्रयोगावस्था में है। अतः उसके भविष्य का निर्णय देना कठिन है, पर उसकी प्रवृत्तियों की छानबीन करते रहने की आवश्यकता अवश्य है।

'जड़वाद' या वास्तववाद ? : ६ :

भारतीय दर्शनशास्त्रमें 'जड़वादी' की संज्ञा उन्हें प्राप्त थी, जो 'पाप-पुण्यका भेद काल्पनिक समझते थे और यह विश्वास रखते थे कि छल, कपट, चोरी, झूठ और व्यभिचार में दोष नहीं है!' हम पाप-पुण्यकी परिभाषाको सनातन माननेवालों में से नहीं हैं; परन्तु हम नैतिक आचारको समाज-स्वास्थ्यके लिए आवश्यक अवश्य समझते हैं।

पाश्चात्य देशों में व्यक्ति-स्वातन्त्र्यकी लहर समाजकी 'नीति-अनीति' की धारणाओं को ठेस पहुँचा रही है। रसैल-जैसे लेखक यह प्रचारित कर रहे हैं कि 'स्त्री को पति नामधारी ही नहीं, अनेक पुरुषों के साथ भी रति-सुखविभोर होने की स्वच्छन्दता मिलनी चाहिए।' रसल यह भी मानता है कि 'प्रेम, बच्चे और स्त्री-पुरुष के सहवास का नाम ही परिवार है।' दूसरे शब्दों में यदि समाज में 'परिवार-संस्था' को जीवित रखना है तो स्त्री का किसी पुरुष के साथ रहना आवश्यक है। इसलिए रसैलवादी विवाहका विरोध तो नहीं करते; पर स्त्री को विवाहित पुरुष के साथ ही बंधी रहने का विरोध अवश्य करते हैं। वे उसके 'पत्नीत्व' और 'मातृत्व' को उससे छीनकर उसे केवल 'नारी' रखना चाहते हैं। स्त्री-स्वातन्त्र्य का यह चित्र है, जिसे वे वास्तव रूप में देखने को व्याकुल हो रहे हैं।

गत महायुद्ध के पश्चात यूरोप में नैतिक बन्धनों का शैथिल्य अपनी चरम सीमा को पहुँच गया था। कई देशों में तो भीषण नर-संहार की पूर्ति के लिए भी स्त्री-पुरुषों की लैंगिक स्वच्छन्दता को प्रोत्साहित किया गया था। साहित्य में भी आदर्शकी भूमिका से हटकर साहित्यकार नवमत को ग्रहण करने लगे। डा० फ्रायड के मानसशास्त्र ने साहित्यकारों को नया विषय प्रदान किया। उन्होंने गुप्त मनपर आवरण डालने वाले कथित उपकरणों को तोड़ फेंकने का प्रयत्न किया। फ्रायड के मतानुसार अतृप्त वासनाओं को दबा रखने से मनुष्य का विकास नहीं हो पाता। अतः मनोविज्ञान के इस अनुसन्धान के आधार पर जेम्स जॉयस, वर्जीनिया वुल्फ, लारेन्स, हक्सले आदिने 'Look in yourself and write' (अपनी ओर देखो और लिखो) का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। इन साहित्यकारोंने वासनाओं के यथातथ्य चित्रण में अपनी

कला की श्रेष्ठता समझी। अश्लीलता-श्लीलता की सीमा से वे ऊपर उठ गए। इस तरह समाज की रुढ़िपर देवत्व को ठोकर मारकर नवीन साहित्यकार एक लेखक के शब्दों में 'चलमानसशास्त्र (Dynamic Psychology) के आधार-पर रुढ़िभंजकता, प्रक्षुब्धता और मानसिक अस्वस्थता को अपनी रचनाओं में प्रतिबिम्बित कर रहे हैं।'

हिन्दी में इन प्रवृत्तियों का चित्रण श्रीजैनेन्द्र की रचनाओं में सब से पहले मिलता है। उनकी 'सुनीता' ने रसेलवादी उपन्यासों की सृष्टि में बड़ी प्रेरणा भरी है। श्री यशपाल का 'दादा कामरेड' और श्रीसर्वदानन्द वर्मा का 'नरमेघ' 'सुनीता' के चरण-चिह्नों पर चलते हुए-से प्रतीत होते हैं। यहां हम 'सुनीता' के कथानककी विस्तृत चर्चाकर उसके परवर्ती उपन्यासों से साम्य बतलाने की चेष्टा करेंगे।

सुनीता पढ़ी-लिखी स्त्री है; सुन्दरी है। अपने पति श्रीकान्त के साथ रहती और घरका मामूली काम करती है। पर उसके जी में जैसे 'कोई' भीतर ही भीतर कुरेदता सा रहता है—उचटी-उचटी-सी रहती है। फिर भी पत्नी-धर्म पालन करती जाती है। श्रीकान्त का एक मित्र हरिप्रसन्न है, जो क्रान्तिकारी है। वह उसे अपने घर ले आता है और अपनी पत्नी से उसका परिचय कराता है। हरिप्रसन्न उसे 'भाभी' कहता और उसे मन ही मन पूजता है। वह दिन रात एकान्त में किसी 'नारी' का चित्र बनाया करता है। श्रीकान्त उसकी विराग-भावना को दूर करने के लिए सुनीता को उससे निकटता बढ़ाने की शिक्षा देता है। सुनीता अपने पतिदेव की आज्ञा शिरोधार्य कर हरिप्रसन्न के निकटतर होती जाती है। कुछ समय बाद श्रीकान्त लाहौर जाता है; पर जाने के पूर्व अपनी पत्नी से कह जाता है—'अब यह तुम्हारे ऊपर रहा कि हरिप्रसन्न यहीं रहे और ठीक रहे।' सुनीता श्रीकान्तका जाना सुनकर सहमती है। कहती है—उन्हें (हरिप्रसन्न) मुझको क्यों सौंपे जाते हो? उनका मन तो मेरे बसका नहीं है।' श्रीकान्त उसे विचलित देखकर उसके नज़दीक आ जाता है।

सुनीता—'तुम जाओगे?' श्रीकान्त (ढाढस देते हुए)—'सुनीता!'

सुनीताने कहा—'तब मेरा विश्वास तो मुझे देते जाओ। वह मुझमें से खिसका जा रहा है। क्या विवाह लौकिक नीति ही है? क्या वह धर्म भी नहीं है? वह सुभीतेकी ही चीज़ है? इन सबसे कहीं पवित्र वस्तु क्या नहीं है? अरे, मुझे ज़रा मेरा विश्वास दे दो।'

श्रीकान्तके वक्षसे लगकर सुनीताने कहा'—कुछ नहीं मेरे प्रिय! राहु आया है, सो दूर होगा। श्रद्धा मेरी डगी न जायेगी! मेरे प्रिय! मुझे प्रेम

करना न छोड़ो। मुझे बेसुध न होने दो। सुध पाकर मैं फिर क्या रहूँगी? मेरा तो सब आधार लुट जायगा।'

श्रीकान्तसे सुनीता कहलाती है—'कहो, तुम मेरी हो।' और सुनीता स्वयं कहती है—'मैं तुम्हारी हूँ।'

इतने विश्वास-सम्पादन, प्रेम-प्रदर्शनके पश्चात् श्रीकान्त लाहौर चला जाता है। घरमें सुनीता और हरिप्रसन्न दोनों ही रह जाते हैं। एक दिन हरिप्रसन्न शामके ५ बजे ऊपर चला जाता है और देखता है, 'भाभी सुनीता स्नान-घरमें से नहाकर निकली हैं। बाल पीठपर फैले हुए हैं, धोती अभी पहिनी नहीं गई है, मानो ज़रा उसकी ओट ले ली गई है। पिंडलियों तक टाँगें खुली हैं, ऊपर धोतीका किनारा वक्ष-भाग तक आते-आते लिपट गया है।' भाभीजीके आदेश से हरिप्रसन्न वहीं कमरेमें बैठ जाता है। थोड़ी देरमें सुनीता आई। उसने और कुछ अपने को नहीं संभाला था; बस, धोती ठीक पहन ली थी। बाल अब भी छिटके थे और उनमें कंघी होना बाकी था। पहननेका कोई कपड़ा भी शरीरपर नहीं लिया गया था।

'बैठिए आप, खड़े क्यों हैं? यह खाट तो है, आइए—बैठिए।' हरिप्रसन्न...भ्रमित-सा खड़ा है। लज्जाको व्यर्थ करती हुई छटामयी यह जो नारी खड़ी है, कह रही है—बैठिए। तब वह चुपचाप बैठ गया। रातको सुनीता हरिप्रसन्न के कमरे में जाती है। वह उसे दूसरी रात क्रान्तिकारियों के बीच जंगलमें ले जाना चाहता है। सुनीता घर छोड़नेको राज़ी हो जाती है! दूसरे दिन सवेरे श्रीकान्तका पत्र सुनीताको मिलता है, जिसमें वह हरिप्रसन्नको हर तरह प्रसन्न रखनेका उपदेश देता है। जानेके पूर्व हरिप्रसन्न सुनीताको अच्छे कपड़े पहन आनेका आग्रह करता है, जिससे उसके दलके युवक देखें कि उनकी देवी चौधरानी सौन्दर्यकी भी देवी है। सौन्दर्य ऐश्वर्यका एक रूप है। सौन्दर्य शक्ति है, सौन्दर्य आदर्श है। वह स्फूर्ति देता है, पवित्रता देता है। 'भाभी' सजकर पहले सिनेमा गई और रातके भीज जानेपर मोटरमें बैठकर उसके साथ ही एकान्त प्रदेशमें पहुँची—सुनसान जंगल, अँधेरी रात, एक का समय। हरिप्रसन्न भाभीका हाथ सँभाले जा रहा है। भाभीको 'मर्दके मज़बूत हाथमें टिक जानेसे मार्ग चलनेमें सुविधा हो गई है।' कुछ क्षण रोशनी चमकी और बुझ भी गई।

'क्यों, क्या हुआ?' कहकर सुनीता हरिप्रसन्नकी बाँहोंमें सिमटी हुई उसके चेहरेकी ओर उत्सुकता से देखने लगी। 'क्या हुआ? बोलो?'

मानो हरिप्रसन्नको पता न हो, उसने सुनीताको अनायास ज़ोरसे चिपटा लिया' और कहा—'तुम जानती हो, अकेला होता तो क्या करता? उस

संकटके मुँहको ही जाकर पकड़ता, लेकिन आज उधर ताकता हुआ दूर खड़ा हूँ। मैं कुछ भी नहीं कर सकता।' और उसी भांति एकाएक झुककर अपने हाथसे सुनीताकी ठोड़ी ऊपर उठाकर कहा—'क्यों? क्योंकि प्रेम आदमीको निर्बल बना देता है।' सुनीता एक क्षणमें सब-कुछ भूल गई। आगे हरिप्रसन्नने कहा—'सुनीता, लेट जाओ।' सुनीता लेट गई। हरिप्रसन्नने अपनी बाहुओंसे उसे अपनी जंघाका सहारा देकर लिटा लिया है, सो वह भी वहां लेट गई है। वह कृतज्ञ है। 'निश्चल पड़ी हुई सुनीताकी बाहुको उठाकर उसने ज़ोरसे उसका चुम्बन लिया। उसका कण्ठ भर आया, देह काँपने लगी। और बिलकुल अपने मुखके समीप ठहरे हुए उस सुनीताके मुखपर वह झुका, झुका और कसकर एक चुम्बन लिया। सुनीता इसपर उठी। वह सम्भ्रमपूर्वक अलग हो बैठ गई।'

लेखक कहता है—'यह उसके लिए अप्रत्याशित था।' क्यों? भुज-पाशमें बँधनेपर उसे आपत्ति न हुई और न प्रथम चुम्बनपर! खैर, हरिप्रसन्न सुनीतासे कहता है—'सोओ, मैं चला जा रहा हूँ। लौटनेका वक्त होगा, तब आ जाऊँगा।'

हरिप्रसन्न चला गया। सुनीता थोड़ी देरमें बाँहका तकिया लेकर लेट गई। लेटे-लेटे सो भी गई। थोड़ी देर में आसमान में चाँद खिल आया। हरिप्रसन्न नहीं सो सका। वह सुनीता के निकट पुन: जाता है और देखता है, वह 'खुले पत्थरपर सो रही है। ओह, रेशमी वस्त्र चाँदनी में कैसे खिल रहे हैं! और मुखड़ा कैसा प्यारा लग रहा है!' हरिप्रसन्न के मन में तूफान सा मच गया। एक बार लौटकर फिर आया। 'एकाएक बैठकर उस नारी के चरणों की उंगलियों का उसने धीरे से चुम्बन लिया, ऐसे धीमे—शायद होंठों ने छुआ तक नहीं। किन्तु लहक तो लहक ही गई। धीमे से उसके हाथ को उठाया और मुँहसे लगा लिया। शनै: फिर सुनीता की देहपर उसने हाथ फेरना शुरू किया। मद उसपर चढ़ता गया। सुनीता की नींद धीरे-धीरे खुली।' किन्तु खुली तो कैसे? क्या उसके मन में ज़रा भी उथल-पुथल नहीं मची? अपने पति की छाती से चिपटकर जो विश्वास की भीख माँगी थी, उसने उसके मन को नहीं कोसा?

लेखक को इसकी चिन्ता ही नहीं है। वह तो पाठकों की यौन-भावनाओं को गुदगुदाने में ही व्यग्र है। वह कहता है—"उसने आँख नहीं खोली। वह अपने शरीरपर आहिस्ता-आहिस्ता फिरते हुए इस पुरुष के हाथ का स्पर्श अनुभव करने लगी। कुछ देर तक तो वह यों ही पड़ी रही। फिर पूछती है—'तुम क्या चाहते हो, हरी बाबू?"

'क्या चाहता हूं ? तुमको चाहता हूँ। समूची तुमको चाहता हूँ।'

सुनीता कहती है—'तो मैं तो हूँ। तुम्हारे सामने हूँ। ले क्यों नहीं लेते?'

हरिप्रसन्न का हाथ घूमता-घूमता सुनीता की बाहुपर रुक गया, वहीं रुका रहा। उसने कहा 'भाभी!'

'तुम्हें काहे की झिझक है, बोलो ? मैंने कभी मना किया है ? तुम मरो क्यों ? कर्म करो। मैं तो तुम्हारे सामने हूँ। इन्कार कब करती हूँ ? लेकिन अपने को मारो मत! मुझे चाहते हो, तो मुझे ले लो।'

हरिप्रसन्न का हाथ अब भी वहीं रुका रहा।

'क्या चाहते हो, हरी बाबू ? मुझे ही चाहते हो न ? यह तो साड़ी है, मैं नहीं हूँ। मैं यह हूँ।' और कहते-कहते साड़ी बिल्कुल अलग कर दी। सुनीता तनिक स्मित के साथ बोली—'यह तो आवरण है, उसके रहते मुझे कैसे पाओगे ? उसे तो उतर जाने दो, तब मुझे लेना। अनावृत्त मुझ ही को लेना।' और एकदम अपने हाथ छीन-झपटकर अपने शरीर से चिपटी हुई 'बॉडी' को उसने फाड़ दिया। वह अन्तिम वस्त्र भी चीर होकर नीचे सरक गिरा।' '

इसके पश्चात् हरिप्रसन्न मोटरपर सुनीताको बिठाकर उसे उसके घर छोड़ आता है और सदाके लिए चला जाता है! श्रीकान्त और सुनीताकी भेंट होती है। श्रीकान्त हरिप्रसन्नको पुनः बुलानेकी जब चर्चा करता है, तब सुनीता कहती है—'मैं तुमसे सच कहती हूँ कि मैंने उनसे यही कहा कि वह जावें नहीं, रुकें। सच कहती हूँ, मैंने अपनेको भी नहीं बचाया। अरे निर्दयी! तुम यही न चाहते थे ?

श्रीकान्तके हृदयमें ज़रा भी पुरुषोचित ईर्ष्याका भाव नहीं जाग्रत होता। वह उदारता प्रदर्शित करता है—'क्या चाहता था, यह तो क्या बताऊँ ? पर दि क्वीन कैन डू नो रौंग!'

उपन्यास यहीं समाप्त हो जाता है। श्रीजैनेन्द्र क्रान्तिकारी हरिप्रसन्नको 'नारी' का अनावृत्त रूप दिखाकर ही रुक गए हैं; हरिप्रसन्नसे सुनीताका सम्पूर्ण शरीर-दान उन्होंने स्वीकृत नहीं कराया है! परन्तु पर-नारीके आलिंगन, चुम्बन आदिको उन्होंने आपत्तिजनक नहीं माना है। सम्भवतः समाजकी वर्त्तमान नीति और सदाचार सम्बन्धी धारणाओंको वे मनुष्यके विकासमें बाधक समझते हैं। वे फ्रायडके समान वासनाओंको दबाते नहीं, उभारकर बाहर निकाल फेंकने में विश्वास रखते हैं!

इसी धारामें श्री यशपालका 'दादा कामरेड' बह रहा है! श्री जैनेन्द्र की 'सुनीता' 'दादा कामरेड' में—जहाँ तक 'क्रान्तिकारी' को अपनेमें भुलाने से

सम्बन्ध है—'शैल' बन जाती है! 'दादा कामरेड' का क्रान्तिकारी पात्र 'हरीश' भी हरिप्रसन्नकी छाया-आवृत्ति कहा जा सकता है। हरिप्रसन्न 'स्त्री' के रूप लावण्य को अपने 'दल' के लिए 'प्रेरणा' का साधन मानता है और सुनीता को उसके लिए उपयुक्त समझता है। हरीश भी 'स्त्री' का यही उपयोग लेना चाहता है; परन्तु 'स्त्री' के शरीर-सौंदर्यको वह हरिप्रसन्न के समान ही स्वयं पी जाना चाहता है। हरीश विवाहित होते हुए भी शैलके रूप की अग्नि-लपटों में समा जाता है। उससे एक रात प्रस्ताव करता है—'देखो शैल, [उसके स्वर में कम्पन था] मैं कुछ भी न करूँगा ... मैं केवल जानना चाहता हूँ, देखना चाहता हूँ, स्त्री कितनी सुन्दर है! मैं स्त्री के आकर्षणको पूर्ण रूप से देखना चाहता हूँ।'

रोमांचित होकर शैलने पूछा—'कैसे ?'

श्वासके वेगके कारण अटकते हुए हरीश ने कहा—'तुम्हें बिना कपड़े के देखना चाहता हूँ।'

शैल ने दोनों हाथों से मुख छिपा लिया। हरीश ने फिर कहा—'जीवन में एक बार मैं देखकर जान लेना चाहता हूँ, वह प्रबल आकर्षण क्या है ? मेरे जीवन में किसी और स्त्री से यह प्रार्थना करने का न तो अवसर ही आयगा और न मुझे साहस ही होगा ?'

शैल विवस्त्रा हो जाती है। क्रांतिकारी हरीश उसे बिजली के प्रकाश में आँख भरकर देख लेता है। श्री जैनेन्द्र का हरिप्रसन्न सुनीता का नग्न शरीर देखकर तृप्त हो जाता है; पर श्री यशपाल का हरीश पूरा वास्तववादी है। वह समूचे 'शरीर को अपना लेता है। कुमारी शैल गर्भवती हो जाती है और उसके 'तेज' को धारण करने के कारण समाज से तिरस्कृत हो जाती है। तब 'दादा कामरेड' उसका उद्धार करने को आगे बढ़ते हैं। उनकी कामरेड शैल उनके पीछे-पीछे चल देती है।

'सुनीता' में श्री जैनेन्द्र ने अन्त में जहां वासना को उभारकर उसपर नियन्त्रण आवश्यक समझा है, वहाँ 'दादा कामरेड' में श्री यशपाल ने 'वासना' पर कोई अंकुश नहीं रखा। शैल ऐसी नारी है, जो 'पुरुष' के सम्पर्क से पिघल उठती है। शैल को 'नग्न' देखने के पश्चात् हरीश का कथन 'देखो शैल, मुझे ऐसा अनुभव होता है, जैसे मैंने बहुत कुछ पा लिया। एक पूर्णता-सी...जैसे तुम मेरी हो और मैं तुम्हारा और इसी भरोसे में अपने बीहड़ मार्ग पर बढ़ता चला जाऊंगा', कोई अर्थ ही नहीं रखता। हरीश की लालसा का, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, यहीं अन्त नहीं हो गया—वह जेठ की प्यास की तरह बढ़ती ही गई। यहीं सुनीता का हरिप्रसन्न

'दादा कामरेड' के हरीश से ऊपर उठ जाता है। वह वास्तव के प्रवाह में ज़रा बुचबुचाकर ही सतह पर आ जाता है और अपने 'लक्ष्य' की ओर भाग जाता है। तभी सुनीता उसके चरणों की रज को माथे पर लेकर उसके प्रति सम्मान प्रदर्शित करती है। सुनीता जब सब-कुछ देने को तत्पर न थी, तब हरिप्रसन्न सब-कुछ लूटना चाहता था, और जब वह सब-कुछ देने को तैयार हो जाती है, तो वह कुछ भी लेने का साहस नहीं करता। यहाँ श्री जैनेन्द्र ने मनोविज्ञानकी गुत्थियोंको चतुराईसे सुलझानेका प्रयत्न किया है। श्रीयशपालके पात्रोंका दृष्टिकोण सर्वथा शरीरी है—स्थूल है।

शैल हरीशसे सम्बद्ध होकर भी रावर्टकी भुजाओं में अपने को सौंप देती है। "मुसकुराती हुई आँखोसे शैलने अपना सिर रावर्टके कन्धेपर रख दिया। धीमे स्वरमें रावर्टने कहा—'यह मंजूरी है ?'

'तुम बड़े शरारती हो।'—पीछे हटते हुए शैल कह रही थी कि रावर्टने उसे चूम लिया।"

सुनीताके समान शैल किसी पुरुषसे विवाह-बन्धन में जकड़ी हुई नहीं है; पर हरीशको वह भीतर ही भीतर 'अपना' बना चुकी थी। अतः जहाँ तक दो पुरुषों को हृदय और शरीर देने से सम्बन्ध है; वहाँ तक सुनीता और शैल में कोई अन्तर नहीं है; परन्तु जहाँ एक में कला को सँवारने की चेष्टा है, वहाँ दूसरे में कला को नग्न रूप में ही लजाते हुए छोड़ दिया गया है। 'सुनीता' में श्रीकांन्त का पुरुषत्व मित्रता की आड़ में सर झुकाए खड़ा है, 'दादा कामरेड' में शैल का 'नारीत्व' पग-पग पर ठोकर खा रहा है। समाज में न तो श्रीकान्त 'पुरुष' का 'टाइप' पात्र है और न शैल 'नारी' की! स्वस्थ पुरुष न तो अपनी प्रेयसी या पत्नी के अन्य पुरुष के साथ हृदय और शरीर-व्यापार को पसन्द कर सकता है और न स्त्री अपने शरीर को अकारण पुरुषों का खिलौना बना सकती है।

'नरमेध' उपन्यास भी यौन-सम्बन्धी स्त्री-पुरुष- समस्या के चित्र को लेकर उपस्थित हुआ है। उसमें समाज का वह रूप दिखाया गया है जहाँ हर स्त्री हर पुरुष की कामवासना को तृप्त कर सकेगी। स्त्री-पुरुष विवाह-बन्धन में बँधकर भी निर्बन्ध रह सकेंगे। 'नरमेध' के लेखक का विश्वास है, 'नारी के तन के प्रति भूख जगना नर के लिये स्वभाविक है, फिर वह नारी कोई भी हो।' तभी नरमेध के पात्र अमर्यादित हो खुलकर खेलते हैं। पुत्र यह जान कर भी कि उसने अनजाने विमाता से यौन-सम्बन्ध स्थापित करके उसे सन्तात-दान दिया है, विशेष पश्चात्ताप नहीं करता। इसके विपरीत, पिता की मृत्यु के पश्चात् सन्तति होने पर वह सौर-गृह मे जाता है, वहाँ उसकी विमाता उसे देखकर—

समझ कर भी 'अधनंगी पड़ी रहती है' और झिझक-शून्य होकर कहती है—'यह तुम्हारा है। तुम से कितना मिलता-जुलता है। याद है वह रात...?'

'सुनीता' के समान 'नरमेध' की 'उर्मिला' भी विवाहिता है। वह भी अपने पति के अतिरिक्त अन्य पुरुष से शरीरसम्बन्ध स्थापित करने में कोई 'पाप' नहीं समझती! सुनीता के समान पाप-पुण्यका संघर्ष प्रारम्भ में उसमें भी मचता है; पर अन्त में वह अपनी स्वाभाविक भूख को बुझा ही लेती है। श्रीकान्त के समान उर्मिलाका पति देवेन्द्र भी अपनी पत्नी को अन्य पुरुष के साथ सम्पर्क बढ़ाने की सुविधा-स्वाधीनता दे देता है और प्रोत्साहित करता है! देवेन्द्र की ज़बान से 'फ्रायड' बोलता है—'आत्म-दमन कभी सही रास्ता नहीं है।' यद्यपि उपन्यास 'सुनीता' के यौन-सूत्र को थामकर चलता है; तो भी उसकी सांकेतिकता और आत्म-दमन की चेष्टा का उसमें अभाव है। उसमें विवाह-परिवार आदिकी रूसी कल्पना की गई है।

पर रूस की स्त्रियाँ भी आज स्वच्छन्द जीवन से घृणा करने लगी हैं; उन्हें प्राचीन पारिवारिक प्रथा से ही पुनः अनुराग हो गया है। पूना के 'सह्याद्रि' में कुमारी मीनाने कामरेड मिस शशेना (रूस के साम्यवादी दलकी एक पदाधिकारिणी) के पत्र को प्रकाशित कराया है,-जिसमें वह लिखती है—"आप हमारे विषय में पढ़ती होंगी कि रूस में स्त्री-पुरुषों में कोई भेद नहीं माना जाता; परन्तु मुझे यह कभी विश्वास नहीं होता कि प्रकृति द्वारा निर्मित भेद मानवी सामर्थ्य से तोड़ा जा सकता है। हम पुरुषों के साथ चाहे जिस कार्य में जुट ज़रूर जाती हैं; पर कुछ काम ऐसे हैं, जिनमें पुरुष ही कामयाब होते हैं, और कुछ ऐसे, जिनमें स्त्रियाँ ही। होटल में लड़कियाँ जितनी तत्परता से भोजन बनाने और परोसने का काम करती हैं, उतनी खूबी से पुरुष नहीं। यन्त्रों—मशीनों—पर काम करने के लिए पुरुष ही चाहिए, स्त्री बेचारी वहां घबरा जाती है, कई बार दुर्घटनाओं का शिकार भी बन जाती है। हमारे देश की विवाह-प्रणाली की आपने जो कल्पना की होगी, उसे मैं अनुभव कर सकती हूँ। परन्तु मैं आपसे स्पष्ट रूपसे कह दूँ कि हमें उससे ज़रा भी सुख नहीं मिल रहा है। अब हम यह अनुभव करने लगी हैं कि हमें अपने आचार-विचार के पुरुष के साथ रहना चाहिए। लड़कपन में मैंने कालेज में स्वैर-जीवन व्यतीत किया था। मैं आज तक भीतर ही भीतर ग्लानि से मरी जा रही हूँ। जिस समय मेरी प्रथम सन्तति हुई और मैं कचहरी में उसे दर्ज कराने गई, तब चेहरेपर सिकुड़न लाकर स्त्री-मैजिस्ट्रेटने मुझसे पूछा कि 'इस बच्चे के पिताका नाम क्या है?' मैंने इस प्रश्न का उत्तर देनेमें ज़रा भी आनन्दका अनुभव नहीं किया, हालांकि स्त्री-

मैजिस्ट्रेट ने होंठोमें मुस्कराते हुए मेरा अभिनन्दन भी किया था। उस रोज़ मैं दिन भर तड़पती रही; मेरा मन बार-बार मुझे टोंचता रहा; कोसता रहा। यह सच है कि हम आर्थिक दृष्टिसे स्वतन्त्र हैं, अपना पेट भरनेके लिए हमें किसी का मुँह नहीं ताकना पड़ता। हम रूसी स्त्रियां कितनी स्वतन्त्र हैं ! पर...काश तुम हमारे हृदयकी धड़कनोंको सुन सकतीं। हमें सामाजिक स्वाधीनता चाहिए। वैवाहिक जीवनमें स्वतन्त्रता तो चाहिए; पर स्वच्छन्दता नहीं। हमें यह प्रतीत होने लगा है कि वैवाहिक जीवनमें अनुशासन हीनता नहीं होनी चाहिए—नियन्त्रणका बन्धन चाहिए। तभी स्त्रियोंको स्वाभाविक प्रवृत्तिके अनुसार सुख प्राप्त हो सकेगा।'

भूत और वर्त्तमानकी नीति-रीति त्याज्य है, यह तो कई साम्यवादी भी नहीं कहते ! जूलियस एफ० हेकर अपने 'धर्म और साम्यवाद' में लिखता है—

"We may be sure, the future lies not in the negation of the past but in the affirmation of the new life for which the proletarian revolution has prepared the way and the coming communist society should be the most favourable environment for the developement of a spiritual culture never before dreamt of by prophets, sages or poets."

'नरमेध' में पुरुष-स्त्री के जिस असंयत जीवन को 'वास्तववाद' के नाम पर चित्रित किया गया है, वह कितना अप्रगतिशील है, इसे कहनेकी अब आवश्यकता नहीं है।

उपन्यासों में फ्रायडवादकी चर्चा करते समय हमें श्री 'अज्ञेय' की 'शेखर: एक जीवनी' का स्मरण हो आया है। उसमें भी 'फ्रायड' की आत्मा बोल रही है। अनजान बालक-बालिका [भाई-बहन] में कामवासनाका एक हलका झोंका कितना चुपचाप बह उठा है :—

"बहिनको गाते सुनते-सुनते, एकाएक कोई अज्ञात भाव बालकके मनमें जाग जाता है। वह एकाएक उत्पन्न नहीं हुआ, कई दिनों से धीरे-धीरे उसके हृदय में अंकुरित हो रहा है; किन्तु इसकी यह व्यंजनीय सम्पूर्णता नई है, आज ही मालाएँ पहनाते समय और गायन सुनते समय, उसके मानसिक क्षितिजके ऊपर आई है। एक अत्यन्त कोमल स्पर्शसे बहिनके कपोलको छूकर बालक कहता है—'कितनी अच्छी लगती हो तुम !'

उसकी शब्दावलिमें सुन्दर-असुन्दर, अच्छे-बुरे, सत्य और असत्य के लिए अलग-अलग संज्ञाएँ नहीं हैं। वह अबोध बालक है, पर 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' के तथ्य को भलीभांति समझता है। इसीलिए अपने हृदयके

इसीलिए वह बल-प्रयोग में विश्वास रखता है। मार्क्सवाद 'वस्तु' को उसके बाहरी रूप मे ही देखता है।

उसका दृष्टिकोण वाह्यात्मक (objective) है क्योंकि उसका विश्वास है कि 'वस्तु के ऊहापोह से वस्तु का असली रूप प्रकट नहीं होता, वरन हमारी ही कल्पना हमारे सामने खड़ी हो जाती है—हम 'वस्तु' में अपना ही रंग भरकर उसे विकृत बना देते हैं। तभी मार्क्सवादी 'यथार्थवादी' होता है। जो 'मार्क्सवाद' में 'आदर्शवाद' की चर्चा करते हैं, वे उसकी 'दर्शन'-नींव को अपने से ओझल रखते हैं। मार्क्स-दर्शन जड़वादी होने के कारण करुणा, नीति या आचारवाद पर विश्वास नहीं रखता। उसमें "आध्यात्मिकता (sprituality)" का स्वभावतः अभाव है।

साहित्य में प्रगतिवाद

: ८ :

मार्क्सवाद की दार्शनिक भूमिका का सिंहावलोकन करते समय विरोध–विकास–जन्य भौतिकवाद (Dialectical Materialism) की चर्चा की गई है। मार्क्स का यह दर्शन , जैसा कि कहा जा चुका है, हीगल के तत्वज्ञान से " चेतन्य " को ऋण करके ही निर्मित किया गया है। प्रो० लेवी के शब्दों में मार्क्स का यह दृष्टिकोण "वास्तववादी " है।

कई मार्क्सवादियों का विश्वास है कि साहित्यकला अपने समय को ही प्रतिबिम्बित करती है। वे यह नहीं मानते कि कलाकार भविष्य का भी स्वप्न देख सकता है, आत्मदर्शन में उनकी आस्था नहीं है। उनका कहना है कि संसार में कला, नीति, विज्ञान आदि का जो विकास दीख रहा है, वह भौतिक परिस्थिति को ही मूल रूप में धारण किए हुए है। अतः समय–विशेष की कला आदि के विकास के कारणों को ढूँढने के लिए हमें तत्कालीन सामाजिक एवं आर्थिक समस्याओं पर दृष्टिपात करना होगा। परन्तु मार्क्सवादियों की बाइबिल 'केपिटल' (अंग्रेजी संस्करण) के भूमिकाकार लिखते हैं कि "Marx does not say, as some have represented him as saying that men act only from economic motives" (मनुष्य आर्थिक उद्देश्य को लेकर ही विकास करता है, यह मार्क्स कहीं नहीं कहता।) उसने तो मानव–उद्देश्यों की चर्चा ही नहीं की।

मार्क्सवादियों को अपने 'वाद' के एकांगीपन का जब अनुभव हुआ तो वे उसका क्रमशः स्पष्टीकरण करने लगे। एंजिल ने अपने एक मित्र के पत्र में लिखा है—"Marx and I are partly responsible for the fact that at times our desciples have laid more weight upon the economic factor than belongs to it" (हमारे अनुयायियों ने आर्थिक तत्व को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया है और इसके लिए मैं और मार्क्स ही ज़िम्मेदार हैं।)

"बाह्यकारणों के विद्यमान होते हुए भी हर देश और काल में 'क्रान्ति' क्यों नहीं मच जाती ?" की ओर जब मार्क्सवादियों का ध्यान गया तो उन्हें अपने तत्वों की एकांगिता और भी अखर उठी। तब उन्होंने बाहर से ज़रा

भीतर देखना प्रारम्भ किया, और इसके लिए उन्होंने 'फ्राइड' का सहारा लिया। मार्क्सवाद में 'फ्राइड' का प्रवेश उसके दायरे की वृद्धि के लिए ही किया गया। आसबोर्न ने कहा भी है कि यदि 'मार्क्सवाद' की एकांगिता नष्ट करनी है तो फ्राइड के मानस-तत्वों को हमें अपनाना होगा!' फ्राइड का मत है कि समाज-भय से जो वासनायें अतृप्त रहती हैं वे अन्तर्मन पर छाई रहती हैं और वे ही अनेक रूप धारण कर स्वप्न में प्रकट होती हैं। जब वासनायें असह्य हो उठती हैं तब मन में अनेक विकृतियां पैदा हो जाती हैं। इसलिए व्यक्ति का यदि समुचित विकास अभीष्ट हो तो उसकी वासनाओं की प्यास को बढ़ने नहीं देना चाहिए। फ्राइड ने कामप्रेरणा पर ही ज़ोर दिया है। फ्राइड को यद्यपि मार्क्सवादियों ने आत्मसात कर लिया है और इस तरह लजाकर ज़रा अन्तर्मुख होने का प्रयास किया है परन्तु 'फ्राइड' की अनुसंधान-दिशा भी भ्रमपूर्ण है, उसने मन की विकृतियों का विश्लेषण तो किया है परन्तु उसमें भी एकांगीपन का दोष आगया है। स्त्री-पुरुष के आकर्षण में लैङ्गिक विरोध ही कारणीभूत होता है, यह सर्वमान्य सिद्धान्त नहीं है। प्रत्येक पुरुष प्रत्येक स्त्री की ओर कामवासना की तीव्रता से ही खिंचता है, यह बात पुत्र-माता, भाई-बहिन आदि के हृदयों में बहने वाले अजस्र प्रेम की निर्मलता स्वीकार नहीं करती। फ्राइडवाद विकृत (morbid) मन के स्त्री-पुरुषों के सम्बन्ध में सम्भवतः लागू हो सकता है; स्वस्थ और ध्येयवादी मन का विश्लेषण फ्राइड ने यदि किया होता तो वह संतों और साध्वियों की उन अनुभूतियों का कारण ढूँढ सकता था—जो कबीर के समान अपने ही में भूल रहते, खिंचे-रहते थे।

"गगन गरजि बरसै अमी, बादर गहिर गँभीर।
चहुँदिसि दमके दामिनी, भीजै दास कबीर।"

'मीरा' अपने किस शरीरी पुरुष के प्रति पागल हो कहती थी—"मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरा न कोई!" वासना-विहीन-प्रेम को 'प्लेटेनिक लव' कहते हैं, जिसमें स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध लैङ्गिक आकर्षण से शून्य रहता है। पर संतों का आलम्बन प्रकृत व्यक्ति प्रायः नहीं होता। वे तो प्लेटो के शब्दों में 'प्रेम की उस भूमिका में प्रवेश करते हैं—जहाँ विरहाकुल आत्मा शाश्वत सौन्दर्य-प्रकाश से आच्छादित हो जाती है।'

फ्राइड ने रोगी मन का विश्लेषण कर जो मनोविज्ञान के तथ्य प्रस्तुत किए, उनसे आत्मप्रेरणा, आत्मानुभव तथा आत्मसाक्षात्कार की गुत्थियाँ नहीं हल होतीं। यदि फ्राइड के तत्वों को मान लिया जाय तो हमारा सारा "संत-साहित्य" केवल 'बुद्धि का विलास' ही रह जाता है; पार्थिव संबंध के अतिरिक्त भी हमारी एक आकांक्षा है—हमारे मन के अन्तरतम से बद्ध एक

सूत्र है जो अदृश्य होते हुए भी हमें खींचता है। हम बाह्य द्वन्द्व–संघर्ष–से ऊब-थक कर उससे हटना चाहते हैं, क्षण भर अपने में ही खो जाना चाहते हैं। कभी कभी भौतिकसुखों के बीच भी, रह रहकर भीतर से अज्ञात टीस सी उठने लगती है। रवि बाबू के शब्दों में "विरह–रोदन रह रहकर कानों में प्रविष्ट होने लगता है।" इस तरह मनुष्य का भौतिक और आध्यात्मिक (बाहरी और भीतरी) दो प्रकार का जीवन स्पष्ट है। हमारी संस्कृति मनुष्य के एकमात्र भौतिक जीवन की कल्पना कर नहीं की। यूरोप में भी अब विचारक कहने लगे हैं कि 'युद्ध–पश्चात् का यूरोप चाहे जो रूप धारण करे पर सच्चा परिवर्तन तभी संभव होगा जब हम आध्यात्मिक तत्वों को अपना लेंगे।"

यहाँ एक प्रश्न और विचारणीय है। वह यह कि क्या 'मार्क्स' ने साहित्य–कला पर कोई विवेचना की है? नहीं, कम्यूनिस्ट मेनीफेस्टो (साम्यवादी विज्ञप्ति) में केवल यही कहा गया है कि "आजतक जो धंधे प्रतिष्ठित समझे जाते थे; जिनका आदरमय आतङ्क से उल्लेख किया जाता था, उन्हें बुर्जुआ वर्ग ने श्रीहीन बना दिया है। डाक्टर, वकील, धर्माचार्य, कवि और वैज्ञानिक उसके इशारे पर नाचने वाले 'भाड़ेती' मज़दूर बने हुए हैं।" उसने बुद्धि जीवियों पर एक व्यंग मात्र किया था और उस समय क्रांति को सफल बनाने के लिए उसे ऐसे प्रचार–साहित्य की आवश्यकता भी थी, जिसमें शोषक–सम्प्रदाय को हतप्रभ बनाया जाय। उसके इस वक्तोटे ने काम ज़रूर किया पर उससे जो साहित्य निर्मित हुआ वह अधिकांश में प्रचार–श्रेणी का रहा। इसका आभास ट्राट्स्की के इन शब्दों में मिल जाता है—"साहित्यकार श्रमजीवी संस्कृति, और श्रमजीवी कला की पुकार तो मचाते हैं पर उनकी दस बातों में से तीन बातें विवेक रहित होकर भावी (?) साम्यवादी जीवन की कला और संस्कृति की ओर निर्देश करती हैं; दो बातें भिन्न (?) श्रमजीवन और श्रमजीवियों की विशेषताओं को इंगित करती हैं और शेष पाँच उन तत्वों की ओर इशारा करती हैं जिनका कोई अर्थ ही नहीं होता।"

इसीलिए उसने चिढ़ कर यह भी कहा कि "यह सत्य नहीं है कि हम अपने कवियों को सदा फैक्टरियों की चिमनियां या बुर्जुआ-वर्ग-विद्रोह के गीत ही गाने को कहते हैं। हम उसे ही प्रगतिशील नहीं मानते जो श्रम-जीवियों का ही राग अलापता है।"

इस तरह हम देखते हैं, मार्क्सवादी साहित्य की धारणाओं में भी 'प्रगति' होती रही है; अतः मार्क्स के मूल तत्वों को ही अपना आदर्श मानकर रचा जाने वाला साहित्य भविष्य में रूढ़िवादी समझा जायगा। समय की गति का चित्रण ही यदि प्रगतिशील साहित्य का लक्षण है तो यह कोई नई बात नहीं है।

साहित्य में युग-संघर्षों की छाया सदा रहती आई है और रहेगी। आपत्ति तभी खड़ी होती है जब सामयिक चित्रण को ही साहित्य का सर्वस्व कहकर केवल प्रचार की चीज़ें लिखनेवालों का ढोल पीटा जाता है। वही साहित्य स्थायी हो सकता है जिसमें मानव-जीवन की दोनों बाजुएं-भौतिक और आध्यात्मिक-सत्यता के साथ खींची जाती हैं। साहित्यकार की रवि बाबू के शब्दों में यही माँग होनी चाहिए—

"रक्त दिए की लिखिबो ? प्राण दिए की शिखिबो, की करिबो काज ?"

× × × ×

हिन्दी में छायावाद युग की अन्तर्मुखी धारा का जब रस सूखने लगा तो नवीनता के उपासकों को नई दिशा खोजने की आवश्यकता प्रतीत हुई। इंग्लैण्ड से मुल्कराज आनन्द, ज़हीर आदि लेखक साम्यवादी साहित्य की गतिशीलता से प्रभावित हो भारत में आ उसका प्रचार करने लगे। लखनऊ में एक प्रगतिशील संघ भी स्थापित कर दिया गया था। प्रेमचंद के सभापतित्व में उसका एक अधिवेशन हुआ था जिसमें प्रेमचंदजी ने आध्यात्मवादी और छायावादी कल्पनाशील साहित्य की निष्क्रियता और रूढिवादिता की यथेष्ट भर्त्सना की थी। यों 'नवीन,' भगवतीचरण वर्मा आदि की रचनाओं में रूढ़िवादिता के प्रति प्रबल विरोध का स्वर छायावाद-युग में भी सुन पड़ता था पर उसको आन्दोलन का स्वरूप तब प्राप्त हुआ जब सुमित्रानन्दन पंत ने कालाकाँकेर से "रूपाभ" नामक मासिक पत्र प्रकाशित किया। उस समय 'पंत' मार्क्सवाद से अत्यधिक प्रभावित थे। अतएव उनकी कवितायें मन की बहिर्मुखता को चित्रित करने लगीं। "रूपाभ" में उनके साथ भगवतीचरण वर्मा, नरेन्द्र शर्मा और 'निराला' भी मार्क्सवादी विचार-धारा का समर्थन करने लगे। इस विचार-धारा का एक रूप नग्न वास्तववाद था। 'रूपाभ' की फरवरी १६३६ की संख्या में निराला की 'चमेली' का जो अंश प्रकाशित हुआ है, उसमें इसी प्रकार के वास्तववाद के दर्शन होते हैं। पर्दे की ओट में समाज का रूप कितना वीभत्स–कितना अशोभन–होता है वह उसमें उभार उभार कर खींचा गया है—

'गाँव में एक पंडित जी रहते हैं। नाम शिवदत्तराम त्रिपाठी। उम्र पचपन के उधर। पेशा-अदालत; झूठ गवाही देना, किसी के नाम झूठ तमस्सुक लिखना-लिखाना आदि।" पण्डित जी विधुर हैं, घर में जवान बहिन है, और है जवान 'भेहू (छोटे भाई की विधवा पत्नी)। लेखक ने इशारा किया है—इसीसे उन्हें दूसरे विवाह की आवश्यकता नहीं पड़ी। उनकी आंखें भेहू से लगी हुई हैं। पण्डित जी का मृत पत्नी से, एक मनोहर नाम का, लड़का भी है। एक दिन "भेहू" किसी प्रसंग पर मनोहर को लक्ष्य कर

अपने ' जेठ ' जी से " लजाकर " (?) बोलती है—" हमारे कोई दूसरा बैठा है ?...कोख का लड़का होता तो कोई एक बात न कहता। तुम्हारा भी होता —" फिर गम्भीर होकर बोली—दीदी का (यहां श्रीमती भैहू महोदया अपनी स्वर्गीया जिठानी पर फबतियाँ कसती हैं।) सुभाव अच्छा न था, तुम से आज तक मैंने नहीं कहा, यह मनोहरा तुम्हारा लड़का नहीं है : दीदी मायके से ही बिगड़ी थीं। कभी कभी वह आता था उस पिछवाड़े वाले बाग में...एक दिन पहर भर रात बीते दीदी बाहर निकलीं। मैंने कहा-क्या है कि हफ्ते में एक रात दो रात इस तरह दीदी अकेले बहिरे जाती हैं। वे निकलीं कि पीछे से दबे पांव मैं भी चली। ऐन वक्त पर पकड़ ही तो लिया। वह तो भगा ; दीदी पैरों पड़ने लगीं। आज तक मैंने कहा नहीं। (लड़का) न बाप को पड़ा है न मा को, उसी जैसा मुँह है।"

जेठ और " भैहू " की यह चर्चा चल ही रही थी कि पं० शिवदत्तराम जी की बहिन बाग़ से आई। " भैहू " हँसकर दूसरी दालान की तरफ चलीं। पं० शिवदत्तराम भाव में डूबे हुए बोले—' बाग़ जल नहीं गया '। बहिन ने सोचा उसीपर छींटा है। उसकी दाल में काला था। बोलीं ' बाग़ क्यों जले, जले घर जहां रोज आग लगती है '।

" भैहू बगुलिन की तरह नन्द पर टूटीं। दोनो हाथ फैलाकर बोलीं— ' अरी राँड़, अपना टेटर नहीं देखती, दूसरे की फूली देखती है ? बहेतू कहीं की, सबेरे जब देखो धोती उठाए बाहर भगी, कभी बाग़, कभी खेत, कभी इनके घर, कभी उनके घर। यह सब बहाने हैं, मैं समझती नहीं ? " जेठ की तरफ कनवाँ घूँघट काढ़कर देखती हुई—" कहे देती हूँ तुमसे, यह अब रहेंगी नहीं घर। खोदैया बिसाते से इनकी आसनाई है, सीधे तुम्हारे मुख में लगायेंगी कालिख और होंगी मुसलमानिन। फिर धमाधम एक कोठरी को चलती हुई ' यह इतना बहुत सीसा खोदैया के यहाँ से आया है, रोज मुँह देखती है। "

' सुनो, सुनो ' पं० शिवदत्त ने बुलाया।

'क्या?' बदल कर भैहू बोलीं, देखती हुई कुछ नज़र बचाकर "घर की बात घर ही में रहने दो" पं० शिवदत्त पूरे विश्वास से बोले 'कोई कुछ करे, दोख नहीं, धर्म न छोड़ें' (यहाँ निराला जी ने बहिन के गुप्त प्रेम पर पण्डितजी के मुँह से जरा भी रोष नहीं प्रकट करवाया)। माना, 'पंडित' खुद पाप के कीचड़ में गले तक सने हैं पर मानव-प्रकृति ऐसे मौकों पर अपना 'टेटर' देखना भूल जाती है और तब जब पण्डित जी भैहू को गपचुप ही रखे हुए थे, तथा दवा-इयों के सहारे समाज में सिर उठाए और मूछें मरोड़कर चलते थे। (खैर; आगे सुनिये) फिर भैहू से—"ज़रा यहाँ तो आओ" कहकर बाहर दहलीज़ की तरफ़ चले।

सिरे पर खड़े हो गये। भेहू जेठ से विश्वास की आँखें मिलाकर खड़ी हो गई।

"सुनो" पण्डित जी ने आदर से कहा। भेहू एक कदम बढ़कर सटकर जैसे खड़ी हुई। "वह दवा जो तुम्हें दी थी, इसे भी पिला दो।" पण्डितजी ने शंका और लापरवाही से कहा।

'तुम निरे वह हो' जेठ की छाती में धक्का मार कर भेहू ने कहा—' ब्राह्मण-ठाकुरों के यहाँ कोई बेवा वह दवा खिलाए बिना रक्खी भी जाती है? वह गावदी होगा; जो रक्खेगा। एक आध के हमल रह जाता है, लापरवाही से। यह, यह सब कुछ कर चुकी है।

'तो ठीक है, चलो,' पीठ पर हाथ रख कर थपकियाँ देते हुए जेठ ने कहा और लौट कर दरवाज़े की तरफ बढ़े!" यह है पं० सूर्यकांत जी त्रिपाठी द्वारा चित्रित पं० शिवदत्त राम जी त्रिपाठी की तस्वीर; जिसे 'विशाल-भारत' की सुश्री महालक्ष्मी जी ने "Literary nudism" (साहित्यिक नग्नवाद) कहा था और 'रूपाभ' सम्पादक श्री सुमित्रानन्दन पंत ने "यथार्थवाद"; साथ ही यह भी-"हमारे युग का यही तकाज़ा है कि अब हम साहित्य में यथार्थता को ही अधिक स्थान दें।" 'मार्क्सवादी' या प्रगतिवादी साहित्यिक का दृष्टिकोण स्थूल ही होता है। इसीलिए आज के साहित्य में आदर्श-शून्य स्वैराचारी व्यक्ति-प्रधानता अधिक है; आदर्श और ध्येय की चर्चा सपना के रंग बिरंगे जाल बुनने के समान समझी जाने लगी है। यह सब इसलिए कि रोटी और शरीर की भूख-प्यास को ही जीवन का अ और ज्ञ समझ लिया गया है; यद्यपि यहाँ कुछ ऐसे प्रगतिशील लेखक भी हैं; जो यह स्वीकार करते हैं, "यद्यपि हमारा सिद्धांत इस बात को स्वतः सिद्ध मान लेता है कि मानव की प्रत्येक प्रेरणा किसी भौतिक ज़रूरत से उत्पन्न होती है, तथापि हम इस बात में भी अखंड विश्वास करते हैं कि मानव में कोई उर्ध्वगामी शक्ति है, कोई नैसर्गिक सत्प्रेरणा है!" (अज्ञेय) पर इनकी संख्या बहुत थोड़ी है! श्री सुमित्रानन्दन पंत ने 'यथार्थवाद' को निम्न पंक्तियों में अपना लिया है।

"युग युग से अवगुंठित गृहिणी, सहती पशु के बन्धन।
खोलो हे मेखला युगों की कटि-प्रदेश से, तन से।
अंगों की अविकस्त इच्छाएँ रहें न जीवन पातक;
वे विकास में बनें सहायक, होवे प्रेम प्रकाशक।
क्षुधा तृष्णा ही के समान युग्मेच्छा प्रकृति प्रवर्तित,
कामेच्छा प्रेमेच्छा बन कर हो जाती मनुजोचित।"

एक पुरुष के आधीन 'नारी' का जीवन कवि को सह्य नहीं है—वे उसे उससे मुक्त करना चाहते हैं। रसेल के अनुसार वह 'प्रेमासक्त' हो

किसी भी पुरुष से यौन सम्बन्ध स्थापित कर सकती है। अगर बलात्कार नहीं है तो 'प्रेमेच्छा' 'मनुजोचित' है। नारी–स्वातन्त्र्य समझ में आ सकता है; पर उसका स्वैराचार न तो उसे "देवी" के पद पर स्थिर रख सकता है और न उससे, समाज–संस्था की नींव ही दृढ़ रह सकती है। इससे इंकार नहीं हो सकता कि भेड़–बकरी की तरह वह किसी अनचाहे पुरुष से न बाँधी जाय, उसे उसकी प्रवृत्ति के अनुकूल पुरुष साथी मिले। समाज की विवाह–प्रणाली में ऐसे सुधार किए जा सकते हैं जिससे 'नारी महिमा से मंडित' हो सके, पशु–बन्धन से छूट सके। उपदेशक का बाना धारण किए हुए कलाकार समाज की गलित प्रथाओं को फेंकने के लिए सक्रिय आन्दोलन कर सकते हैं; तुकबन्दियाँ आदि रच सकते हैं पर यथार्थवाद के नाम पर नारी के जम्पर और साड़ी उतरवा उसके गुप्ताङ्गों को देखना जैसे श्री जेनेन्द्र ने 'सुनीता' में और श्री यशपाल ने "दादा कामरेड" में किया है—नारी जाति को अपमानित करना है। यह उसका उद्धार नहीं है, विकृत मन का वाणीविलास है।

निराला जी के "चमेली" से उद्धृत अंश में लेखन–शैली का चमत्कार दर्शनीय है, इसमें सन्देह नहीं कि उसमें ठेठ भाषा में समाज के एक सड़े अंग का चित्रण है, पर इसमें ज़रूर सन्देह है कि हिन्दू समाज में 'जेठ और विधवा बहू' का जो सम्बन्ध उन्होंने कल्पित किया है, वह सर्व साधारण (Common) है, घर घर देखा जाता है! निरालाजी का यह निष्कर्ष कि उच्चकुल में विधवायें गर्भ–निरोध की दवाएँ खाकर ही ठहरती हैं, जल्दबाज़ी से भरा हुआ प्रतीत होता है। हमारे मत से स्त्री–पुरुषों के लैङ्गिक सम्बन्ध तक ही यथार्थवाद सीमित नहीं रहना चाहिए। यहाँ प्रसंगवश हम निरालाजी के 'बिल्लेसुर बकरिहा' का एक चित्र भी उपस्थित करते हैं जिसमें 'प्रगतिशील बिल्लेसुर' की कलकत्ता—यात्रा का कितना यथार्थ वर्णन है, यद्यपि यत्र–तत्र लैङ्गिक–व्यंग्य से वह भी मुक्त नहीं—जैसे: "दुलारे अपना ईश्वर के यहां से खतना कर आये थे, पिता को नामकरण में आसानी पड़ी 'कटुआ' कहकर पुकारने लगे, आदर में "कट्टू।" हा, तो बिल्लेसुर "जाति के ब्राम्हण, 'तरी' के सुकुल, खेमे वाले पुत्र खेयाम की तरह किसी बकरी वाले के पुत्र बकरिहा नहीं। बकरी पालने से बकरिहा कहलाए।" आप कलकत्ता की ओर कैसे मुखातिब हुए, इसे निराला जी के शब्दों में सुनिये —"गाँव में सुना था; बंगाल का पैसा टिकता हैं, बबई का नहीं। इसलिए बंगाल की तरफ देखा। पास के गावों के कुछ लोग बर्दमान महाराज के यहां थे सिपाही, अर्दली, जमादार। बिल्लेसुर ने साँस रोककर निश्चय किया, बर्दमान चलेंगे। लेकिन खर्च न था। पर प्रगतिशील को कौन रोक सकता है? वे उसी फटे हाल कानपुर

गये। बिना टिकिट कटाए कलकत्ता वाली गाड़ी में बैठ गए। इलाहाबाद पहुँचते २ चेकर ने कान पकड़कर प्लेट फार्म पर उतार दिया। बिल्लेसुर हिन्दुस्तान के जलवायु के अनुसार सविनय कानून भंग कर रहे थे। कुछ बोले नहीं, चुपचाप उतर आये, लेकिन सिद्धान्त छोड़ा नहीं। प्लेटफार्म पर चलते-फिरते समझते-बूझते रहे। जब पूरब जाने वाली दूसरी गाड़ी आई, बैठ गये। मोगलसराय तक फिर उतारे गये। लेकिन दो तीन दिन में चढ़ते उतरते बर्दमान पहुँच गये।"

जिन पाठको को थर्ड क्लास में यात्रा करने के अवसर आते हैं उन्हे हर बार अपने डिब्बे में निराला जी के 'बिल्लेसुर बकरिहा' घुटनो तक धोती चढ़ाये, मैले कपड़े के छोर में शायद गुड़–सतुआ या चना-गुड़ बाँधे सकपकाए से खड़े दिखे होंगे; दिख सकते हैं। 'बिन टिकटिहा' यात्रियों का यह चित्रण कितना सजीव है, कितना व्यंगपूर्ण और साथ ही कितना करुण! प्रगतिवादी कहलाने वाले कवि नरेंद्रकी

'फागुन की आधीरात' शीर्षक एक बेतुकी रचना है—

"है रँभा रही बछड़े से बिछुड़ी एक गाय,
थन भारी हैं, दुखते भी हैं!
आता गजनेरी साड़ भटकता सड़कों पर चलता मठार,
क्या वही दर्द उसके भी है?
जा रही किसी घर के जूठे बर्तन मल कर,
बदचलन कहारी थकी हुई।
चौका बरतन, सैना–बैनी में बिताचुकी यौवन के दिन,
काटनी उसे पर उमर अभी तो पकी हुई!
बज रहे कहीं ढप ढोल झाँझ पर बहुत दूर,
गा रही कहीं मद मस्त मजूरों की टोली
कल काम–धाम करना सब को पर नींद कहाँ
है एक वर्ष में एक बार आती होली।

इसमें प्रथम ६ पंक्तियों में कवि ने योनवाद को जबरन ठूसने का प्रयत्न किया है। कहारिन को बद–चलन' कहे बिना भी वे उसका भींगी रात तक परिश्रम कर थक उठने का खाका खींच सकते थे! 'बदचलन' शब्द तो उस वक्त उसकी दयनीय अवस्था का चित्रण खांचता जब उसे 'सैना–बैनी में यौवन के दिन बिताने" का सर्टिफिकेट न दिया जाना और यह बतलाया जाता कि वह किसी धनी को अपने पेट की आग बुझाने के लिए, जबरन शरीर–भेंट कर रही है।

कल कवि अभिजात वर्गीय तरुणियों के रूप पर मुग्ध हो उन्मत्त गीत गाया करता था; आज कृषक-किशोरी को अधनंगी देख कर वह सिहिर उठता है। श्री शिवमंगलसिंह 'सुमन' की निम्न पंक्तियाँ पढ़िए:—

"लँहगा समेटे गाँठ तक पहने गिलट के गुड़इरे,
खुरपी लिए, खँचिया लिए अनुराग अंचल में भरे॥
छूकर कृषक सुकुमारियों को विधुर विस्मित वात था,
कैसा मधुर प्रभात था।"

इसमें कृषक-कन्या का यथार्थ चित्रण तो है पर उसके 'गाँठ तक लहँगा समेटे' रहने से ही कवि की कल्पना उसके 'अंचल में अनुराग खोजने लगी है; और विधुर वात उससे छेड़—छाड़ करने लगा है।

अब तक के विवेचन से प्रगतिवादी साहित्य के संबंध में हम इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि (१) उसने बौद्धिक सामग्री प्रदान की है। इंग्लेण्ड के प्रसिद्ध प्रगतिवादी कवि ईलियट ने कहा भी है कि आज साहित्यकार को बुद्धिवादी बनना चाहिये। इसी से हमारे कवि भावुक की अपेक्षा विचारक अधिक हो गए हैं। अंतर्प्रेरणा का स्थान तर्क-विवेचना ने ले लिया है। (२) प्रगतिवादी साहित्य-कार की दृष्टि बहिर्मुखी हो गई है। तभी वह संसार का केवल 'फोटोग्राफर' रह गया है इसी से उसकी रचनाएं अच्छी रेखा-चित्र होती हैं (३) नीति सदाचार की वह धज्जियाँ उड़ा चुका है। समाज की वर्तमान व्यवस्था, चाहे उसमें कुछ समाज-स्वास्थ्य के तत्व ही क्यों न हों, उसे ग्राह्य नहीं हैं। 'नारी' को वह स्वाधीन करना चाहता है, उसे एक पुरुष की नहीं, (वह चाहे तो) अनेक की बनाने में उसे आपत्ति नहीं है. (४) ईश्वर धर्म, लोक-परलोक आदि पर उसकी आस्था नहीं है (श्री उदयशंकर भट्ट की "मानसी" में इसकी स्पष्ट घोषणा है।) मनुष्य ने सदियों के अनुभव से जो कुछ सीखा है, उसे वह भूल जाना चाहता है। (५) राजनीति में गांधीवाद उसे अधोगामी प्रतीत होता है। वह वर्ग-संघर्ष में विश्वास रखता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि इस नवमतवादी साहित्यकी पृष्ठभूमिमें कौन—सी चेतना कार्य कर रही है। यह भौतिकवादका युग है, आध्यात्मिकता का नहीं। यह तर्कका युग है, विश्वास और श्रद्धाका नहीं। भौतिकवाद प्रत्यक्ष प्रमाणपर विश्वास करता है, अनुमानपर नहीं। जो चीज़ बुद्धिसे सिद्ध नहीं की जा सकती, उसका अस्तित्व नहीं माना जा सकता। इसीसे कल्पनाका साहित्य प्रगतिवादीको मान्य नहीं। उसका वर्तमान में विश्वास है, भूतकाल उसके लिए असत्य है। उसका 'दर्शन' उसे कहता है कि संसार पल—पल परिवर्तित होता जाता है और प्रतिक्षणका परिवर्तन ही नवीनताकी सृष्टि करता जा रहा है।

इसलिए जो कल सत्य था, आज वही सत्य कैसे रह सकता है? प्रगतिवादकी दार्शनिकता मार्क्सके सिद्धान्तोंसे प्रभावित होनेके कारण सर्वथा स्थूल-भौतिक-है। इस दर्शनको द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dilectical Materialism) कहा जाता है, जिसका सरल अर्थ यह है कि दो विभिन्न तत्वोंके संघर्षसे तीसरा तत्व निर्मित होता है। रूसमें जब शोषक और शोषित वर्गोंका संघर्ष हुआ तब देश में उस प्रगतिवादी क्रांतिने जन्म लिया, जिसने उसकी काया पलट दी। समाजमें इसीलिए दो विरोधी विचारों का संघर्ष उत्पन्न करना चाहता है, इस विश्वास पर कि उससे एक नूतन परिस्थिति तैयार होगी और नए युगका प्रादुर्भाव होगा। भौतिकवादी होनेके नाते इसका मनुष्यकी मानसिक स्थितिके क्रमशः परिवर्तनमें विश्वास नहीं है, क्योंकि मनके संस्कारोंके बननेमें समय लगता है। मार्क्सवादी आनेवाले समयकी प्रतीक्षा नहीं करना चाहता।

पूछा जाता है कि इस परिवर्त्तनशील प्रगतिवादी साहित्यका भावी स्वरूप क्या होगा? हाल ही रूसमें प्रगतिशील लेखक संघ की एक बैठकमें इसी प्रकारका प्रश्न उद्‌भूत हुआ था। उसके एक सदस्यने बहुत खिन्न होकर कहा था कि हमने आज तक जितना साहित्य लिखा, उसमें केवल प्रचार है। साहित्य के वे तत्व नहीं हैं, जो उसे शाश्वत बनाते हैं। अतः इसमें संदेह है कि ऐसा साहित्य आनेवाली पीढ़ी को तुष्ट कर सकेगा। जब 'माडेल' साहित्य की यह स्थिति है, तो उसकी अनुकृति पर जीवित रहनेवाले हमारे प्रगतिशील साहित्य के सम्बन्ध में कहना ही क्या है? अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ के चौथे अधिवेशन के सभापति श्री डांगे ने भी अपने भाषण में यही प्रतिध्वनि निकाली है— "हमारा कोईभी नारा यथार्थ वेदना का स्पर्श नहीं कर सकता है। उपन्यास कला में हम बंगाली उपन्यासों से अभी मीलों पीछे हैं। हमारे प्रगतिशील लेखकों को 'शेष प्रश्न' जैसी कृति सृजन करने के लिये अपना कलेजा कागज़ पर उतार कर रख देना होगा। हमारे कलाकार अभी मजदूर स्त्रियों के शौर्य और पराक्रम का आभास तक नहीं पा सके। उनमें इन अबलाओं की आवाज़ पहुँच ही नहीं पाई।" इस प्रकार के साहित्यका सबसे बड़ा दोष यह है कि वह जिस वर्ग के लिए लिखा जाता है, उसका उस वर्ग की भाषातक से कोई सम्बन्ध नहीं। यहीं तक नहीं, उस वर्ग के साथ एकरस होकर हमारे प्रगतिवादियों ने बहुत कम अभिव्यक्त किया है। उसे अपनी आँखों से देखने की उन्हें चिन्ता नहीं है तब मनो और टनों कागज़ों में लिखा गया प्रगतिशील साहित्य किसकी बौद्धिक प्यास बुझाने के लिए है? मुझे इसीलिए प्रगतिवादी साहित्य का भविष्य अंधकारमय दीख पड़ता है। साहित्य में युगकी भावना लेकर जो चरित्र अंकित किए जाते हैं, वे समय के

साथ मिट नहीं जाते; परन्तु जब वे केवल युग के कंकाल-मात्र रह जाते हैं, तब उनपर सुन्दर शब्दों का आवरण पहनाकर उन्हें मुखर नहीं बनाया जा सकता। साहित्य किसी वर्ग-विशेष के लिए नहीं है, उसमें समाज की पूर्ण चेतना प्रतिबिम्बित होनी चाहिए।

साहित्य में यथार्थवाद और आदर्शवाद : ९ :

मनुष्य का जीवन द्वन्द्वात्मक है। वह अपने वातावरण को—दृश्य जगत को—उसके वास्तविक रूप में देखता है और उसके भीतर निहित रहस्य को जानने के लिये आतुर भी होता है। 'दृश्य-जगत' के परे किसी अन्य लोक की कल्पना को आदर्श की संज्ञा दी जाती है, जिसके अस्तित्व के सम्बन्ध में मानव मन भिन्न-भिन्न प्रकार के रूपों की सृष्टि करता रहता है। शेक्सपियर का एक पात्र कहता है, 'होरेशिओ', क्षितिज के परे भी 'कुछ है जिसे तुम्हारी भौतिक आँखें नहीं देख सकतीं।' वह 'कुछ' क्या है, इसे खोजने के लिये दार्शनिक की प्रज्ञा त्रस्त और व्यस्त रहती है और कलाकार की कल्पना उड़ने के लिये अपने पंख फैलाया करती है। दार्शनिक की दृष्टि में दृश्य-जगत सत्य है और असत्य भी। अदृश्य जगत के लिये भी उसका तर्क विभ्रम से ऊपर नहीं उठ पाया। परन्तु कलाकार उन दोनों लोकों को सत्य मानता है। उसकी दृष्टि इन्द्रियगम्य वस्तु के प्रति उतनी ही सहज भावमय हो जाती है जितनी वह किसी अगोचर लोक के प्रति हो सकती है। कहने का तात्पर्य यह कि कलाकार और कलाकार का सत्य इन्द्रियगम्य मात्र नहीं है।

साहित्य में वे ही भावनाएं यथार्थवाद के अन्तर्गत आती हैं, जिनका क्षेत्र इन्द्रियगम्य है और जो केवल कल्पना-लोक की सृष्टि है उसे आदर्शवाद में परिगणित किया जाता है। परन्तु यह लोक-विभाजन कलाकार की वृत्ति के अनुरूप नहीं है। उसकी सृष्टि में जैसा कि ऊपर कहा गया है, द्वित्व नहीं है। वह अपने जीवन के द्वन्द्व के साथ सहमत नहीं होता। उसका यही 'रसवाद' उसे जन-साधारण से पृथक करता है। उसकी सत्ता निर्बन्ध है। इस निबन्ध में कलाकार के 'रसवाद' का प्रश्न अलग रखकर साहित्य में प्रचलित दो वादों की चर्चा मात्र की जायगी।

वर्तमान युग भौतिकता को ही सबकुछ मानता है। उसका अनुमान में नहीं, प्रत्यक्ष में विश्वास है। वह बीते हुए 'कल' की अपेक्षा वर्तमान क्षणों पर अधिक आस्था रखता है और आगामी 'कल' के प्रति सर्वथा उपेक्षा प्रदर्शित करता है। इस प्रकार की वृत्ति को वैज्ञानिक भौतिकवाद (scientific materialism) कहा जाता है जिसमें बुद्धि की प्रधानता होती है और भावावेग

जन्य कल्पना के लिये कोई स्थान नहीं होता। दृश्य-जगत को भोगभूमि मानकर ही उसकी प्रवृत्तियाँ अग्रसर होती हैं। इसलिये आज के साहित्य में जीवन के वर्तमान का चित्रण खूब उभार—उभारकर किया जाता है। उसमें जीवन को ही निरावरण देखने की इच्छा नहीं रहती, उसके साथ शरीर के अंग-प्रत्यंगो को देखने की ललक भी प्रदर्शित की जाती है। मनुष्य की सारी वासनाओं को उभारने के लिये मानो चुनोती दी जाती है। नीति का नारा लगाने वालो को महाभारत-काल के वे दृश्य दिखलाये जाते है, जिनमें योन-सम्बन्ध आज के समान दृढ़ नही था। पाण्डवो की माता कुन्ती कौमार्यावस्था में ही कर्ण को जन्म दे चुकी थी। पाराशर ऋषि नदी पार करते समय नौकापर सत्यवती पर आसक्त हो गये थे और नौका में ही उनका उससे समागम हुआ। लोक-दृष्टि बचाने के लिये ऋषि ने अपने तप-बल से कुहासे का परदा अवश्य खड़ा कर दिया था। यह सत्य है कि नैतिक सिद्धांत शाश्वत नहीं होते। वे युग-धर्म के अनुरूप परिवर्तित होते हैं। महाभारत-काल का समाज रामायण काल में बदल चुका था। लक्ष्मण चौदह वर्ष राम और सीता के साथ वन मे रहने के पश्चात सीता के चरणों के ही आभूषण पहचान सके। आज हमारी नैतिक धारणा महाभारत कालीन नहीं रह गई है। मानव जाति ने जो सदियों से अनुभव प्राप्त किया है, उससे वर्तमान युग ने लाभ उठाया है। यथार्थ-चित्रण के नाम पर समाज का जो रूप यथार्थवादी प्रस्तुत कर रहे हैं, उससे पाठक की एक ही वृत्ति का सम्भवतः सन्तोष होता है। वह उसमें अधिक से अधिक अपना प्रतिबिम्ब देख सकता है। परन्तु मनुष्य जो कुछ वह है उसे तो जानता ही है। उसे 'क्या होना चाहिये ?'—इसे जानने की भी उसमे एक प्रवृत्ति होती है, जिसकी तृप्ति यथार्थवादी साहित्य से नही होती। इसीलिये वह कल्पना जन्य किसी ऐसे लोक में पहुँच जाना चाहता है जहाँ इस लोक का चीत्कार न हो, पशुता का प्रदर्शन न हो, वरन् प्रेम का सगीत झरता हो और शान्ति का आवास हो। 'प्रसाद' का कवि किसी ऐसे ही लोक मे ले चलने को अपने 'नाविक' से अनुरोध करता है।

"ले चल वहाँ भुलावा देकर, मेरे नाविक धीरे-धीरे।
जिस निर्जन मे सागर लहरी, अंबर के कानो मे गहरी,
निश्छल प्रेम-कथा कहती हो, तज कोलाहल की अवनी रे।
उस विश्राम-क्षितिज वेला से, जहाँ सृजन करते मेला से
अमर जागरण उषा नयन से, बिखराती हो ज्योति घनी रे।"

हमारे साहित्य में यथार्थवाद की लहर रूस के मार्क्सवादी आन्दोलन से अधिक प्रभावित जान पड़ती है। यही कारण है कि उसमे प्राचीन संस्कृति और

समाज के पारिवारिक बन्धन शिथिल हो रहे हैं, फिर भी उनकी जड़ खोखली
नहीं हो पाई है। देश का ग्राम-जीवन पारिवारिकता को आज भी अपनाए हुए
है। अतएव जब साहित्य में यथार्थवाद के 'नाम पर पारिवारिक जीवन को
विध्वस्त बताया जाता है, तब उसका आशय शहरी जीवन के कुछ अंश का
चित्रण मात्र होना चाहिये। उसमें भारत के यथार्थ सामाजिक जीवन
को अंकित देखना भ्रामक होगा इसी प्रकार जब भारतीय नारी के स्वच्छन्द
यौन (Sex) विहार का अंकन किया जाता है, तब वह भी वर्तमान समाज का
प्रतिनिधि-रूप नहीं कहा जा सकता। रूस में अब इस प्रकार के अतिरंजित,
असंस्कारी चित्रणों के प्रति साहित्य जगत में काफी विद्रोह की भावना जाग्रत हो
चुकी है। सन् १९४४-४५ में लेनिनग्राड के एक सुप्रसिद्ध यथार्थवादी कलाकार
जोसे काफ ने जब समाज में स्वच्छन्द विहारिणी रूसी नारियों का चित्रण करना
प्रारम्भ किया तब वहाँ की साहित्य-संस्थाओंने लेखक पर भीषण भर्त्सना की
वर्षा की। उसे रूसी संस्कृति को विकृत रूप में प्रस्तुत करने वाला अपराधी
साहित्यिक ठहराया गया और उसकी कृतियों को प्रकाशित करने वाली
प्रकाशन-संस्थाओं एवं पत्र-पत्रिकाओं को देश-द्रोही कहा गया। इसी प्रकार
एक रूसी यथार्थवादी कवियित्री का भी वहाँ की जनता द्वारा
'सत्कार' किया गया था। आज रूस में रूसी संस्कृति और रूसी जीवन को
उज्वल रूप में प्रस्तुत करने के लिये कलाकारों को प्रेरित किया जा रहा
है। समाज की गन्दगी को साहित्य में उतारने की प्रवृत्ति वहाँ निन्दनीय
समझी जाती है। वहाँ के परिष्कृत बुद्धि-कलाकार जीवन की महत्ता और
उच्चता तथा उसकी सद्वृत्तियों को साहित्य के उपकरण बनाने में व्यग्र हो रहे हैं।
उनके लिये जगत का दृश्य रूप ही सब कुछ नहीं रह गया है; वे अब उसका
कल्याणकारी रूप भी देखना चाहते हैं। आदर्शवादी साहित्यकार भी यही
चाहता है। वह अपने पाठकों को इस लोक से खींचकर कहीं दूसरी दुनियाँ
में ले जाना नहीं चाहता। वह तो इसी दुनियाँ में दूसरी दुनियाँ का दृश्य
दिखलाना चाहता है। हाड़-माँस के बने हुए नर में ही निराकार नारायण
के दर्शन कराना चाहता है। वह मनुष्य के जीवन को हर्ष, उल्लास, आशा
और महत्वाकांक्षा से आप्लावित कर देना चाहता है। यथार्थवाद की तरह
जीवन और जगत के प्रति घृणा, अविश्वास, विरक्ति और निराशा का संकेत
वह नहीं देना चाहता। यथार्थवादी साहित्य ने मनुष्य को जितना उत्पीड़ित
और अस्थिर बनाया है, आदर्शवादी साहित्य उसे उतना ही स्थिर और
आनन्दमय बनाने की चेष्टा करता है और साहित्य का लक्ष्य जीवन
को आनन्दमय बनाना ही है। जीवन के संघर्ष से ऊबकर मनुष्य साहित्य का

इसीलिये आश्रय लेता है कि वह अपने वातावरण से भिन्न परिस्थिति में जा पहुँचे। यथार्थवादी साहित्य में उसे भिन्न परिस्थिति नहीं मिलती। आज का युग जीवन माँगता है। क्या यथार्थवादी साहित्य उसे यह दे सकता है? क्या आदर्शवादी साहित्य उसे यह दे सकता है?

: १० :

अभिव्यञ्जनावाद

क्रोशे इटली के आधुनिक युग के प्रसिद्ध दार्शनिक हैं। उन्होंने मानस-दर्शन (Philosophy of mind or spirit) का विवेचन करते हुए कला पर भी अपने विचार व्यक्त किये हैं। क्रोशे ने मन के दो व्यापार माने हैं। १ ज्ञान (प्रज्ञा) और २ क्रिया (संकल्प)। एक सिद्धांत है और दूसरा व्यवहार। ज्ञान भी दो प्रकार के होते हैं। एक प्रातिभ ज्ञान (Intuition) दूसरा प्रमेय ज्ञान (Logic)। प्रातिभ-ज्ञान कला से सम्बन्ध रखता है, और प्रमेय-ज्ञान तर्कशास्त्र से। बुद्धि की क्रिया के बिना मन में अपने आप उठने वाली मूर्त भावना को प्रातिभ ज्ञान कहते हैं। इसे निम्न उदाहरण से समझा जा सकता है—

" कभी चौकड़ी भरते मृग से—
भू पर चरण नहीं धरते
मत्त मतंगज कभी झूमते,
सजग शशक नभ को चरते
कभी कीश से अनिल डाल में
नीरवता से मुँह भरते। "

आकाश में उड़ते हुए बादलों को देख कर कवि के मन में कई प्रतिमाएँ (Images) अंकित हो जाती हैं, कभी चौकड़ी भरते मृग की प्रतिमा खिंच आती है, कभी कजरारे घनों से मत्त मतंगज मन में झूमने लगते हैं और कभी खरगोश की आकृति बन जाती है। मन का यही व्यापार 'प्रतिभ-ज्ञान' कहलाता है। और यह प्रतिभ-ज्ञान कल्पना द्वारा ही संभव है। कल्पना ही मूर्ति-विधान करती है। वस्तु से मन पर चिन्ह (Impressions) अंकित होते हैं जो कल्पना के आधार बनते हैं। क्रोशे ने कल्पना को विचार से पृथक माना है। कल्पना को वे बुद्धि-प्रसूत भी नहीं मानते। उसे मन की एक स्वतंत्र सत्ता मानते हैं। वे विचार का सम्बन्ध बुद्धि से जोड़ते हैं; क्योंकि तर्क-वितर्क विचार के साथ चलता है। सौंदर्य का बोध कराने वाली भी कल्पना है। वस्तु के सौन्दर्य का उद्घाटन 'कल्पना' द्वारा होता है। 'छाया' का सौन्दर्य पंत की कल्पना से ही मूर्त बन सका है—

" कौन कौन तुम परिहत वसना,
म्लान मना भू पतिता सी,
धूलि धूसरित मुक्त कुन्तला
किसके चरणों की दासी। "

इसीलिये क्रोशेने ' कला ' पर कल्पना का निर्बन्ध शासन माना है। वे प्रत्येक वस्तु में कल्पना का अस्तित्व मानते हैं। अतः ' कवि-जन्मतः उत्पन्न होता है ' सिद्धान्त को वे नहीं मानते। वे मनुष्य को जन्म से ही कवि मानते हैं। जिसकी कल्पना जितनी ही तीव्र होगी वह उतना ही सुन्दर कवि होगा।

क्रोशे ने सौन्दर्य को वस्तुगत नहीं माना, उसे मनुष्य के मन में स्थित माना है। टैगोर ने भी एक स्थल पर कहा है—'Oh woman! thou art half dream, half reality। क्रोशे वस्तु या प्रकृति को सौन्दर्य का एक उद्दीपन आधार मात्र स्वीकार करते हैं। मनुष्य कल्पना के सहारे रूप की सुन्दर आकृति निर्मित करता है। काली 'लला' में मजनू की कल्पना बहुल आँखों ने अप्सरा का साँचा ही निर्मित किया था। कलाकार के मन में विश्व की कोई भी 'वस्तु' सुन्दर हो सकती है।

अनातोले फ्रांस ने थायम में एक पात्र से कहलाया है—कोई वस्तु स्वतः भली या बुरी नहीं होती। हमारा विचार ही वस्तुओं को इन गुणों से आभूषित करता है; उसी भाँति जसे नमक भोजन को स्वाद प्रदान करता है।' क्रोशे वस्तु (matter) को परिवर्तनशील मानते है पर आकृति (form) को आत्मा की कृति मानते हैं जो स्थिर और एक रस रहती है।

क्रोशे अभिव्यंजना को बाहरी या भौतिक नहीं, मानसिक क्रिया मानते हैं। मन में किसी 'मूर्ति' की कल्पना के जाग्रत होते ही उसकी अभिव्यंजना भी उदित हो जाती है। साधारणतः हम अभिव्यंजना-कला के बाहरी रूप को कहते हैं। उदाहरणार्थः—कविता की अभिव्यंजना उसके शब्द और छन्द हैं। क्रोशे वाह्य अभिव्यक्ति को अभिव्यजना नहीं कहते। वे कहते हैं; "शब्द या छन्द बाहर तभी प्रकट होते हैं जब मन उन्हें पहिले गा चुकता है। अतः अभिव्यञ्जना ही सौन्दर्य है और सौन्दर्य ही अभिव्यञ्जना।" क्रोशे वाह्य जगत में ही सौन्दर्य नहीं पाते। वे तो अभिव्यञ्जना में, उक्ति-चमत्कार में भी सौन्दर्य देखते हैं। वे कला का मूल्य कला ही मानते हैं। कला किसी को आनन्द प्रदान करती है या घृणा से भर देती है, इससे कलाकार उदासीन रहता है। क्रोशे ने कला की अभिव्यजना को चार हिस्सों में विभाजित किया है।

१ भीतरी संस्कार—वस्तु के दृष्टिगोचर होते ही द्रष्टा के चित्त पर होने वाला संस्कार।

२ अभिव्यञ्जना—संस्कार के जाग्रत होते ही मन में अपने आप आविर्भूत होने वाली अभिव्यक्ति ।

३ सौन्दर्य—बोध से उत्पन्न आनन्द ।

४ कल्पना का स्थूल रूप में अवतरण । शब्द, रंग, स्वर आदि के द्वारा कल्पना का अवतार, जिससे जन-साधारण कला की कल्पना से अवगत होता है ।

इन चारों का सम्मिलित-व्यापार पूर्ण अभिव्यञ्जना-विधान कहलाता है । अभिव्यञ्जना-वादियों के अनुसार जिस रूप में व्यञ्जना होती है उससे भिन्न अर्थ आदि का विचार छोड़ कर केवल वाग्वैचित्र्य को लेकर चलता है । पर वाग्वैचित्र्य का हृदय की गम्भीर-वृत्तियों से कोई सम्बन्ध नहीं है। वह केवल कौतूहल उत्पन्न करता है ।

ब्रेडले यद्यपि क्रोशे के समान कलावादी हैं तो भी वे केवल आकृति (form) को महत्व नहीं देते । आकृति और सामग्री (form and matter) मिल कर काव्य की सृष्टि होती है । अतः शैली और अर्थ दोनों का सामंजस्य आवश्यक है ।

कला में नीति-मर्यादा के पक्ष में रस्किन, टालस्टाय, रिचर्डस आदि हैं । ब्रेडलेके मतसे नागरिक के नाते कला-कृति में अनीति-प्रदर्शन अस्वास्थ्य कर—वातावरण तैयार करता है । क्रोशे कला में अश्लीलता के लिये समाज को जिम्मेदार ठहराते हैं क्योंकि उसीका तो बिंब कलाकार के मन पर पड़ा है! समाज का मानसिक—धरातल कला में प्रतिबिम्बित हो ही जाता है ।

वे कला और कलाकृतियाँ—कविता, चित्र आदि में भेद मानते हैं— What are these combinations of words which are called poetry, prose, romances, tragedies all but physical stimulants of reproduction." उनके मत से कला-कृतियाँ प्रातिभज्ञान की अभिव्यक्ति को बाह्य—रूप देकर पुनः प्रातिभज्ञान को जाग्रत करने का एक साधन हैं । क्रोशे के अभिव्यञ्जनावाद का अब दौर समाप्त हो गया है; यह सच है । पर कला में अभिव्यक्ति का महत्व कम नहीं है, भाव में वह सौन्दर्य की आभा अवश्य भरती है ।

काव्य में गर्भिणी नारी ! : ११ :

नारी के रूप ने कवि की वाणी को मुखरता प्रदान की है, संगीत का रस दिया है। वह जब उसे देखता है तब और कुछ नहीं देख पाता, वह जब उसकी आरती उतारने लगता है तो मन्दिर के देवता के मस्तक से फूल नीचे गिर पड़ते हैं, वह पथरा जाता है, और घट-घटमें रमने वाले भगवान अपनी व्यापकता छोड़ कर उसी में समा जाते हैं। उसके 'रोम-रोम' से कवि को 'अपार स्नेह है;' उसकी 'अकेली सुन्दरता सकल ऐश्वर्य' का संधान है। उसके अंग-अंग का, अवस्था-अवस्था का वर्णन उसने किया है; वय: सन्धि से लेकर प्रौढ़ावस्था तक के शरीर-व्यापार उससे नहीं छूटे हैं। महाकवि कालिदास के कुमार-संभव में तो 'शंकरजी' की उन्मत्तता इतनी बीभत्सता पर पहुँच जाती है कि वे पार्वती के सुन्दर अंगों को क्षत-विक्षत बना प्रात: बड़े मदिर भाव से विलोकते हैं; 'संभोग' का वर्णन उन्होंने इतनी नग्नता के साथ किया है कि वह शृंगार रह ही नहीं गया है। रीति कालीन शृंगारी-और आज के यथार्थवादी कवि प्राचीन संस्कृत कवियों के सामने नाक रगड़ते हैं! काव्य में मिलन-विरह के बहुरंगी चित्रों की भी कमी नहीं है पर एक बात जो समझ में नहीं आरही है वह यह है कि कवियोंने नारी के गर्भ-कालीन सौंदर्य की अधिक वर्णना क्यों नहीं की ?

महाकवि कालिदास तक ऐसे प्रसंगों पर नहीं रमे हैं; कुमार-संभव और शकुन्तला दोनों में। शकुन्तला में कण्व को शकुन्तला की गर्भावस्था का ज्ञान अलौकिक शक्ति द्वारा प्राप्त करने की क्या आवश्यकता थी ? यदि कवि चाहते तो शकुन्तला के शरीर पर व्यक्त गर्भ-लक्षणों से ही ऋषि को अवगत कर सकते थे। एक स्थल और आता है, जहां कवि शकुन्तला के गर्भ-सौंदर्य का मनोरम वर्णन कर सकते थे। वह है दुष्यन्त की राज-सभा में शकुन्तला की उपस्थिति। वहां वे राजा से केवल इतना कहला कर मौन हो जाते हैं— 'तत्कथमि-मामभिव्यक्त सत्व लक्षणां प्रत्यात्मानं क्षेत्रिणमाशंकमान: प्रति पत्स्ये।'

भवभूति भी गर्भवती सीता को वन में भेजकर 'प्राप्त प्रसव वेदनमति दु:ख संवेगादात्मानं गंगा प्रवाहे निक्षिप्तवति' कह कर आगे बढ़ जाते हैं।

हिन्दी के मध्यकालीन प्रबन्ध-काव्यों में भी स्त्री की इस उत्सावस्था पर कवि श्रेष्ठों का अधिक ध्यान नहीं गया। पद्मावतमें जायसीने पद्मावती का "जन्म खंड" लिखकर भी उसकी माता "चम्पावती" की गर्भावस्था का उल्लेख मात्र किया है:—

"प्रथम सो जोति गगन निरमई ॥
पुनि सो पिता माथे मनि आई ॥
पुनि वह जोति मातु घट आई ॥
तेहि ओदर आदर बहु पाई।
जस अवधान पूर होइ मासू
दिन दिन हिये होइ परगासू ॥
जस अंचल महं छिपे न दीया।
तस उंजियार दिखावै हीया ॥"

चंपावती का 'अवधान' (गर्भ) जैसे जैसे पूर्ण होता जाता था, वैसे वैसे उसके हृदय का हर्ष प्रकट होता जाता था। कवि ने हृदय के 'उजियार' का ही दर्शन कराया है। शरीर पर भी 'उजियाली' छाई थी या नहीं, इसका संकेत नहीं मिलता। यदि कवि चम्पावती की बाह्य 'उजियारी' के साथ उत्प्रेक्षा या 'अपह्नुति' अलंकार के सहारे यह कल्पना करते कि यह 'चम्पावती' के शरीर का निखार नहीं है, उसके हृदय की प्रसन्नता बाहर फूट पड़ी है तो गर्भ के बाह्य लक्षण का चित्र प्रस्तुत हो जाता ! गोस्वामी तुलसीदास ने भी दशरथ की पत्नियों की गर्भावस्था का वाह्य रूप प्रस्तुत नहीं किया:—

"मंदिर मँह सब राजहिं रानी।
सोभा सील तेज की खानी ॥
एहि विधि गर्भ सहित सब नारी।
भईं हृदय हरषित सुख भारी ॥

गर्भवती होकर रानियाँ हर्षित हुईं, बस। आधुनिक कवियों में 'प्रसाद' ने कामायनी में गर्भवती नारी के सौंदर्य का लुभावना वर्णन किया है। मनु 'परिचय की रागमयी संध्या' के पश्चात् अपनी कुटी में आते हैं; डोलते हैं। अनमनी सी श्रद्धा हाथों में तकली लिये खड़ी है; उसकी काली-काली अलकें एड़ियों को चूम रही हैं। मनु की आँखों में मद छा गया:—

"केतकी गर्भसा पीला मुँह,
आँखों में आलस भरा स्नेह।
कुछ कृशता नई लजीली थी
कम्पित लतिका सी लिये देह !

लतिका सी कृश गात्री श्रद्धा गर्भ-भार से योंही थकी सी थी पर जब उसने मनु की आँखों में शरारत भरा उन्माद देखा तो वह भय से एक बार काँप उठी। यही 'कम्पन' 'शृंगार' का—उसकी भाव विभोरता का—अनुभाव भी हो सकता था पर हम जब आगे—

'मनु ने देखा जब श्रद्धा का वह सहज खेद से भरा रूप और'

अपनी इच्छा का दृढ़-निरोध आदि पढ़ते हैं तो हमें निश्चय हो जाता है कि 'लतिका' के कम्पन में बाह्य शृंगार के होते हुए भी भीतरी भयही है। कविने 'पयोधरों' की 'पीनता' का भी उल्लेख किया है और यहां उनका वर्णन समाप्त होजाता है। पं० द्वारकाप्रसाद मिश्र के महाकाव्य 'कृष्णायण' में संस्कृत कवियों के समान ही गर्भवती नारी की आकर्षक झाँकी मिलती है। 'यशोदा' के "गर्भ" में "विश्वेश" का प्रवेश होता है, उनके शरीर में प्रकृति-व्यापार प्रारम्भ हो जाते हैं :—

'प्रविशत तनु गुरु जगत-विधाता,
भयी असह्य भार कृश माता।
पीत कांति युत देह प्रकाशी ;
उष: काल जनु शशि निशि भासी।'

गर्भ-भार से प्रारम्भिक काल में माता कृश होती है और उसकी 'देह' पीली पड़जाती है। परन्तु उस पीलेपन में पीलिया (पाँडुरोग) सी निस्तेजता नहीं होती प्रत्युत ऐसी कान्ति होती है जो समस्त शरीर को जगमगा देती है। कामायनीकार को जहां गर्भिणी के 'मुँह' की ही पिलाई दीख पड़ी है, वहां 'कृष्णायन' के कवि की दृष्टि उसके समस्त शरीर की कांति की ओर गई है। 'प्रसाद' ने 'मुँह' के 'पीलेपन' की उपमा केतकी फूलके गर्भ—भागसे दी है जिससे दो बातें व्यंजित होती हैं (१) नारी के मुखका रंग पीला है और [२] वह निस्तेज है। विरहिणी नारी के आभाहीन मुख की उपमा प्राय: 'केतकी गर्भ' से दी जाती है। वियोगिनी सीता के विरह-दग्ध शरीर का वर्णन करते हुए भवभूति ने लिखा है—

'ग्लपयति परिपाण्डु क्षाम मस्या:शरीर शरदिज इव धर्म: केतकी गर्भपत्रम्।'

'कृष्णायण' की गर्भिणी की देह पीत कांतिसे प्रकाशित हो रही है। उत्प्रेक्षालंकार से उसकी 'कांति' और भी खिल उठी है। कविने उसकी पीली आभा को चाँदनी रातकी उषाके समान कहा है 'चाँदनी रातकी उषा' से व्यंजना होती है :—[१] गर्भिणीनारी प्रकृतावस्था में भी गौर वर्ण है [२] गर्भ के कारण उसकी गोराई और भी विलस उठी है। "उष:काल जनु शशि निशिभासी" पंक्तिने नारीके गर्भरूप का सुन्दर और पूर्ण चित्र खींच दिया

है। प्रसादने श्रद्धा के स्तनों की पीनता को इंगित किया है और वह भी किसी क्रमसे नहीं। स्तनों और शरीर में पीनता गर्भके उत्तर कालमें आती है। मिश्रजी ने इस ओर ध्यान दिया है।

"बीतेउ क्रम-क्रम दोहद-त्रासा
पुष्ट सर्व अवयव तन भासा।

जीर्ण पत्र जनु लता विहायी
शोभित नव मनोज्ञ पुनि पायी।

चहति दिवस निशिताहि दुरावा
घटा ओट चह चन्द्र छिपावा।"

प्रसाद गर्भिणी के सर्व अवयवों की पीनता की ओर नहीं देखते। मिश्रजी स्तनों का विशेष उल्लेख न कर समस्त अवयवों का वर्णन करते हैं! गर्भिणी के वर्णका जिस प्रकार सर्वांगीणवर्णन है उसी प्रकार उसके अवयवों का भी। कृष्णायन की गर्भिणी के चित्र में प्रसाद के समान चांचल्य नहीं है; मादकता नहीं है। कविने उसके उभरते हुए पीन स्तनों को बाँधने में रस नहीं अनुभव किया और न उसके पीले मुख पर पुरुष की वासना के मँड़राने की भूमिका ही बाँधी है। उसमें उसके शरीर का क्रमिक परिवर्तन अङ्कित किया गया है, उसकी बाह्य अवस्थाओं के वर्णन में अलङ्कारिता होते हुए भी कल्पना विलास-बिलकुल नहीं है; सौंदर्य रसपूरित होते हुये भी उसमें मातृत्व की गंभीरता है; पवित्रता है; जिसे देखकर हमारी आँखें विकार-वश यहां-वहां नहीं दौड़तीं, प्रत्युत श्रद्धा से नत हो उसके चरणों में ठहर जाती हैं। कृष्णायन में ऐसे कई नारी- चित्र हैं जो अपने सात्विक सौन्दर्य के कारण मोहक हैं।

हिन्दी-नाटकों का विकास : १२ :

हिन्दी नाटकों का प्रादुर्भाव बाबू हरिश्चन्द्रसे माना जाता है ; " यद्यपि नेवाज कविका शकुन्तला नाटक, वेदान्त विषयक भाषा ग्रन्थ " समयसार " नाटक, ब्रजवासीदास प्रभृति के प्रबोध चन्द्रोदय नाटकके भाषा अनुवाद, नाटक नामसे अभिहित हैं " तो भी " इन सबकी रचना काव्य की भांति है अर्थात् नाटक रीत्यानुसार पात्र-प्रवेश इत्यादि कुछ नहीं है। -- देव कविका ' देवमाया प्रपञ्च नाटक ' श्री महाराज काशिराजकी आज्ञा से बना हुआ 'प्रभावती नाटक' तथा महाराज विश्वनाथसिंह रीवांनरेशका आनन्द रघुनन्दन नाटक यद्यपि नाटक-रीतिसे बने हैं किन्तु नाटकीय यावत नियमोंका प्रतिपालन इनमें नहीं है—(ये) छन्दप्रधान ग्रन्थ हैं। विशुद्ध नाटक-रीतिसे पात्र प्रवेशादि नियमरक्षण द्वारा भाषाका प्रथम नाटक कविवर गिरिधरदास (बाबू गोपाल-चन्द्रजी) का है। दूसरा ग्रन्थ वास्तविक नाटककार राजा लक्ष्मणसिंह का शकुन्तला नाटक है।" बाबू हरिश्चन्द्रके मतानुसार उनके पच्चीस वर्ष पूर्व से ही नाटक का प्रारम्भ होता है और उनके पिता गोपालचन्द्रजी ही प्रथम नाटक कार हैं।

रीतिकालीन नाटक

रीति कालमें कवि ' देव ' आदि रचित काव्यमय नाटकोंकी रचना हुई थी पर वे जैसा कि भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रने ऊपर कहा है, नाटक की कोटिमें नहीं आ सकते। मनोरंजन के लिये रामलीला, रासलीला, और कुछ कथाओं का नाटक-रूप मुगलकाल हीमें प्रारम्भ हो गया था। जनता अपनी धार्मिक भाव-नाओं के अनुरूप इन्हें खेलती देखती रही है। पर इनमें रङ्गमंच तथा नाटकीय उपकरणों का अभाव रहा है। संस्कृत, बंगला और अंग्रेजी नाटकों के अध्ययनने ही वास्तव में हिन्दी नाटकोंको जन्म दिया है। उपर्युक्त ' घरेलू नाटकों के अतिरिक्त नवाब वाजिदअलीशाह के जमाने में मुन्शी अमानतखां के ' इन्दर सभा मुछन्दर ' सभा ' जैसे गीति नाट्योंका भी चलन बढ़ा।

पारसी थियेटरों का प्रादुर्भाव

सन् १८७० के लगभग जब पारसी थियेटरों का प्रादुर्भाव हुआ तो जनता ' इन्दर सभा ' और ' लीलाओं ' तक ही अपने को सीमित नहीं रख सकी।

इन थियेटरों ने पाश्चात्य शैली के रङ्गमंचों की रचना कर जनता में नया कुतूहल पैदा किया पर यह कुतूहल बहुत महँगा पड़ा। उससे जनता का नैतिक धरातल लेशमात्र भी नहीं उठ सका। उन्नीसवीं शताब्दीमें मुगलों के विलासमय जीवनकी छाया से आच्छादित जनता 'चवन्नियाँ' लुटाना चाहती थी। पारसी कम्पनियों ने उसे उसीकी अभिलषित वस्तु प्रदान की, जिसका परिणाम यह हुआ कि नाट्य कला पनपनेके बजाय मुरझती ही गई। ये कम्पनियां श्रेष्ठ से श्रेष्ठ नाटकों का कितना भद्दा प्रदर्शन करती थीं, इसका वर्णन स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने निम्न शब्दों में किया है। "काशी में पारसी नाटकवालों ने नाच घर में जब शकुन्तला नाटक खेला और उसमें धीरोदत्त नायक राजा दुष्यन्त खेमटेवालियों की तरह कमर पर हाथ रखकर मटक मटक कर नाचने और 'पतली कमर बल खाय' यह गाने लगा तो डाक्टर थीबो प्रभृति विद्वान यह कह कर उठ आये कि अब देखा नहीं जाता। ये लोग कालिदास के गलेपर छुरी फेर रहे हैं।"

भारतेन्दु-काल

कहा जाता है, तभी से बा० हरिश्चन्द्र ने संस्कृत नाट्य-नियमों को लक्ष्य बना अपने नाटकों की सृष्टि की। फिर भी उनके नाटक अपने समय की लोक—रुचि से अछूते न रह सके! बाबू हरिश्चन्द्र के नाटक भी इस योग्य नहीं थे कि आम जनता उनका अभिनय देखकर अपना मनोरंजन कर सकती। वे शिष्ट समाज के ही विनोद का साधन बने रहे।

श्री हरिश्चन्द्र के बाद श्रीनिवासदास, किशोरीलाल गोस्वामी, आदि के नाटक प्रकाश में आये। श्री राधा कृष्णदास के 'महाराणा प्रताप' की खूब हलचल रही। वह कई स्थानों पर अभिनीत भी हुआ। परन्तु सबसे पहिला हिन्दी-नाटक जो बनारस थियेटर में खेला गया वह पं० ललिताप्रसाद त्रिपाठी 'जानकी मङ्गल' था। भारतेन्दु के अस्त के साथ ही हिन्दी-नाटक-कला भी उस समय अधिक प्रगति न कर सकी। उनके सहयोगियों तथा अन्य लेखकों ने ऐसे नाटक अवश्य लिखे जिनमें समाज, राजनीति और धर्म की समस्याओं पर विचार किया जाना था पर उनमें वह प्रतिभा न थी जो उनके नाटकों को कलाकी आभासे चमका सकती। हिन्दी नाटकों के कलाहीन होने की चर्चा करते हुए डा० वार्ष्णेयने लिखा है कि "हिन्दी नाटकों का जन्म धार्मिक और नैतिक अराजकता के बीच हुआ था।"

खड़ी बोली के मध्यकाल याने सं० १९६० और १९७५ के बीच भी हिंदी में अनुवाद-नाटकों की जो परम्परा बाबू हरिश्चन्द्र के काल से प्रारम्भ हुई थी,

वही जारी रही। लाला सीताराम ने संस्कृत और अंग्रेजी के कई नाटकों का अनुवाद किया। पं० सत्यनारायण कविरत्न ने भवभूति के संस्कृत और पं० रूपनारायण पाँड़ेय ने बंगला नाटकों के अनुवाद किये। श्री रामचंद्र वर्मा ने द्विजेन्द्रलाल राय और गिरीशचन्द्र घोष के बंगला नाटकों के अनुवाद किये। राय देवीप्रसाद "पूर्ण" ने भी "चन्द्रकला भानुकुमार" नामक लम्बा नाटक लिखा जो असफल रहा। पं० माधव शुक्ल का 'महा-भारत' जनता में खूब प्रिय हुआ। इसका कई बार अभिनय किया गया। इसमें पात्र अपनी स्थिति के अनुरूप भाषा बोलते हैं।

द्विवेदी युग में पं० माखनलाल चतुर्वेदी का 'कृष्णार्जुन युद्ध' काफी प्रसिद्ध रहा। स्व० मोहनलाल का दावा था कि इस नाटकका ढाँचा उनका था। श्री बदरीनाथ भट्टका 'दुर्गावती' भी कथानक के वैचित्र्य और हास्यरस के पुट के कारण लोकप्रिय हुआ। बाबू जयशङ्कर 'प्रसाद' के नाटकों ने तो हिन्दी-नाट्य संसार में अपनी भाषा की सुन्दरता, सांस्कृतिक दृष्टिकोण और ऐतिहासिक कथा-वस्तु-गुम्फन से एक नया ही मार्ग खोल दिया। वे अभिनय की अपेक्षा 'श्रवण' या वाचन के अधिक उपयुक्त हुए। 'प्रसाद' के नाटकों की गणना शुद्ध साहित्य-नाटकों में की जानी चाहिए, जिनसे साधारण जनता की नहीं, पण्डितों की साहित्यिक-प्यास बुझ सकती है।

इसी समय पारसी थियेटर्स के नाटकों के रूप-रङ्ग में परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगा। श्री नारायणप्रसाद 'बेताब' ने उनकी भाषा के कठिन उर्दूपन के स्थान पर बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया। कथानक पौराणिक कथाओं से लिये जाने लगे। इसके अतिरिक्त आगाहश्र काश्मीरी, तुलसीदत्त 'शैदा', हरिकृष्ण जौहर, राधेश्याम कथावाचक आदि नाटक-क्षेत्र में आए। नाटकों में हास्यरस का विशेष आयोजन किया गया। पण्डित बदरीनाथ भट्ट के 'कुरुवन दहन' में हास्य की अच्छी पुट है। खेद है, हिन्दी में रंग-मंच के योग्य प्रभावशाली कलापूर्ण नाटकों की सृष्टि नहीं हो सकी।

वर्तमान युग

'प्रसाद' की शैली पर पण्डित उदयशङ्कर भट्ट ने भी ऐतिहासिक, सामाजिक और पौराणिक नाटकों की रचना की है। उनका 'अम्बा' नाटक अधिक प्रसिद्ध है। उन्होंने 'गीति'-नाटक भी लिखे हैं। श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी' को भी नाटक रचना में अच्छी सफलता मिली है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने कई दृष्टियों से उनके नाटकों को 'प्रसाद' से उत्कृष्ट माना है। इब्सनवाद को हिन्दी में लाने का श्रेय पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र को है। पर मिश्रजी की भाषा में बड़ी रुक्षता और शिथिलता पाई जाती है। उनके पथ पर सेठ गोविन्द दास भी बढ़ रहे हैं।

'अश्क', गोविन्दवल्लभ पंत डा० बल्देवप्रसाद मिश्र आदि ने भी नाटकों की दिशा में प्रयत्न किया।

आज के सङ्घर्षमय जीवन में समयाभावकी छाया नाटकों पर पड़ी है। इसीसे 'एकांकी' नाटकों की लोकप्रियता बढ़ती जा रही है। 'प्रसाद' के 'एक घूंट' के बाद सर्वश्री रामकुमार वर्मा, उदयशङ्कर भट्ट, सेठ गोविन्ददास, भुवनेश्वर प्रसाद, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' आदि इस क्षेत्र में प्रगति कर रहे हैं। समाज-समस्याओं का हल उनमें प्रस्तुत किया जाता है। संस्कृत में भाण के ढंग के 'मोनोड्रामा' भी लिखे जा रहे हैं।

पार्सी थियेटरों में सुधार होने को ही था कि देश में सवाक चित्रपटों ने रंगमंचो की उन्नति को अनिश्चित कालके लिये स्थगित कर दिया है। पर हमारा विश्वास है कि भविष्य में सवाक चित्रपटों के बावजूद थियेटरों का पुनरुद्धार होगा।

समस्यामूलक नाटक और 'सिन्दूर की होली' :१३:

'सिन्दूर की होली' समस्यामूलक नाटक है। उसकी भूमिका में डाक्टर रामप्रसाद त्रिपाठी लिखते हैं—"प्रस्तुत नाटक के रचयिता श्री लक्ष्मीनारायण जी, इब्सन, बर्नार्डशा आदि प्रमुख नाटकारों के विचारों और घटनाओं से प्रेरित होकर हिन्दी नाट्य साहित्य में नवीन धारा का प्रचार करने की चेष्टा कर रहे हैं।" अतः 'सिन्दूर की होली' की समीक्षा के पूर्व उसकी प्रेरक शक्तियों पर दृष्टिपात कर लेना उचित होगा।

उन्नीसवीं शताब्दी के ढलते हुए प्रहर में यूरोप में आधुनिक नाटकों का सूत्रपात्र हो चुका था। नार्वे के नाटककार हेनरिक इब्सन ने नाटकों को बौद्धिक स्वातंत्र्य प्रदान करदिया था। उसके क्षेत्र में अवतीर्ण होने के पूर्व यूरोप में नाटक के चार संप्रदाय प्रचलित थे। पहला इंग्लैंड में शेक्सपियर के पद-चिन्हों पर चलता था। दूसरा स्पेन में केल्डेरिन और वेगा के नेतृत्व में बढ़ रहा था। तीसरा फरासीसी पुरातनवाद (French Classicism) के रूप में विद्यमान था जिसको मोलियर कार्निले और रैसिले पल्लवित कर रहे थे। और चौथा लेसिग शिले तथा गेटे के तत्वावधान में प्रगति कर रहा था। जर्मनी उसका केन्द्र था।

इब्सन-युग के पूर्व उपर्युक्त नाटक-सम्प्रदायों का क्षेत्र अपने जन्मस्थानों से आगे नहीं बढ़ा। परन्तु इब्सन की रचना-कला नार्वे से उदभूत होकर वहीं नहीं रही। उसने यूरोप में फैलकर धीरे धीरे सब देशों के साहित्य को आक्रान्त कर डाला। इब्सन की कला में ऐसा कौनसा जादू था जो हर राष्ट्र के नाट्य साहित्य को अभिभूत कर सका?

इसके प्रचलन का प्रमुख कारण यह है कि इब्सन के प्रादुर्भाव के समय यूरोप समाज के जीर्ण शीर्ण अंग को तराश कर फेंक देने के लिये आतुर हो रहा था। जीवन की वास्तविकता को पहचानकर व्यक्ति-स्वातंत्र्य की लहर से वह आन्दोलित हो रहा था और इब्सन ने अपने नाटकों में व्यष्टिचिंतन तथा समष्टि की रूढ़ धारणाओं के संघर्ष में व्यक्ति की स्वतंत्र सत्ता

के संरक्षण की इसी समय जय-घोषणा की—मनुष्य के व्यक्तित्व को निर्बाध पुरस्सर करना उसका लक्ष्य बन गया। इस तरह इब्सन ने तत्कालीन सामाजिक पुनरुद्धार की लोकवृत्ति का मनोवैज्ञानिक लाभ उठाया। साथ ही उसके पूर्व नाटक बँधीबधाई परिपाटियों से इतने जकड़े हुए थे कि उनके अभिनय और वास्तविक जीवन में गहरी खाई दीख पड़ती थी। पहले नाटक या तो पुरातन-वादी (Classics) या रोमांचवादी (Romantic) होते थे या उनकी कथा-वस्तु बहुधा पुराण कल्पित होती थी। यदि कभी वास्तविक समाज से वह ली भी जाती तो उसमें सम्भ्रान्त पारिवारिक जीवन को ही स्वीकार किया जाता। उसमें वैचित्र्यपूर्ण परिस्थितियों का समावेश बहुत अधिक होता था, आदर्शवाद की प्रतिष्ठा की जाती और अनैसर्गिक काव्यमय संवादों के साथ अतिरंजित चरित्रचित्रण की प्रधानता होती थी। इब्सन ने प्राचीन नाटकतंत्र को परि-वर्तित कर दिया और इसतरह नाटकों में नवीन आकर्षण उत्पन्न किया। इब्सनवादी नाटकों की निम्न विशेषताएं हैं —

(१) उनमें धीरोदात्त या धीरललित, उच्च कुल संभूत पात्रों को ही केन्द्रबिन्दु (नायक-नायिका) नहीं बनाया जाता। उनमें समाज के निम्न से निम्न स्तर के भी व्यक्ति नायकत्व प्राप्त कर सकते हैं।

(२) नाटक की कथावस्तु वर्तमान समाज-जीवन की आतुर समस्या को लेकर चलती है इस तरह जनता और कला में दूरी का आभास नहीं रहता—उनमें एकरसता उत्पन्न होती है। समाज अपने रूपके जीवनक्रम को प्रत्यक्ष देख-कर हिल उठता है और नाटक में प्रतिपादित समस्या के हल पर सोचने-विचारने लगता है।

(३) उनमें नाटककार की ओर से रंगमंचपर पात्रों के प्रवेश, उनके रूप-रंग वर्णन, दृश्य आदि के संकेत दिये जाते हैं, जिनसे यथार्थता की प्रतीति होती है।

(४) भाषा काव्यमय नहीं होती; सरल सीधी होती है। दैनिक जीवन में व्यवहृत बोली का आश्रय लिया जाता है। इसप्रकार वह नाटककार की भाषा न रहकर सब की बोली बनजाती है। मुहावरों द्वारा व्यंगात्मक चुटकियां बड़े कौशल से ली जाती हैं (ब.कॅर के 'मद्रास हाउस' नाटक में पात्रों का संभाषण ऐसे ढग से होता है कि हम अपने को राहगीरों के बीच वस्तुत: खड़ा पाते हैं।)

जैसा अभी ऊपर कहा गया है, इब्सनवादी नाटक वस्तुत: यथार्थवादी नाटक हैं, जो अपने युग की मनोभावनाओं के अनुरूप विकसित हुए हैं। ये यथार्थवादी नाटक अपने समय की सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, मनोवैज्ञा-

निक आदि सभी प्रगतिओं और प्रवृत्तियों का प्रतिबिंब होते हैं। इनमें युगका सूक्ष्म दर्शन होता है क्योंकि यथार्थ चित्रपट उनका प्राण है।

आधुनिक विचारों की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति का जो यथार्थवादी नाटक चित्रण करते हैं, उनमें मानसिक और भावात्मक संघर्ष का रूप भी दीख पड़ता है। उनमें कार्य (action) बहुत कम, बहुधा बिलकुल भी नहीं होता। परन्तु शब्दों और संकेतों से विचारों और भावनाओं की अभिव्यक्ति अच्छी पायी जाती हैं।

सब देशों के इब्सनवादी नाटकों के रचनातंत्र (Technique) में यद्यपि समानता रहती है तो भी उनमें कलाकार की संस्कृतिजन्य विशेषता के कारण अपनी छाप अलग पायी जाती है। उदाहरण के लिये गोर्की के नाटकों में उदासीनता, नैराश्य, नार्वे–स्वीडन के पात्रों में कुछ झक्कीपन आदि देशीय चरित्र वैशिष्ट्य पाया जाता है।

इब्सन ने अपने नाटकों में जीवन का निरपेक्ष वाह्यात्मक चित्र प्रस्तुत किया है और व्यक्ति के संघर्ष को भी, अपने को सर्वथा पृथक रखकर प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। एक आंग्ल आलोचक कहता है कि "इब्सन ने केवल रचना कौशल (Technique) के कारण विश्व साहित्य में अपनी धाक जमा ली है। नाटकों में उसने गद्यात्मक शैली का प्रभाव कर काव्य का रस स्रोत सुखा दिया है उसके अनुयायी यह भले ही कहें कि नाटक ने बौद्धिक स्वातंत्र्य प्राप्त कर लिया है। पर उन्हें यह नहीं भूल जाना चाहिये कि नाटक को उसके लिये बड़ा भारी मूल्य चुकाना पड़ा है और वह है काव्य के सौन्दर्य की हत्या।"

इब्सनवादी नाटकों के पुरस्कर्ताओं में इंग्लैण्ड में शॉ, गेल्सवर्दी आदि फ्रांस में रास्टेन्ट, बेल्जियम में मिटरलिंक, जर्मनी में हेप्टम और आयर्लेण्ड में यीट्स, लेडी ग्रेगरी आदि हैं। इब्सनवाद के नाटकों में जो यथार्थ का आग्रह किया जाता है, उसका आधार सिसरो का यह वाक्य है—"Drama is a copy of life, a miror of custom, a reflection of truth" (नाटक जीवन की अनुकृति है, आचार का दर्पण है, सत्य का प्रतिबिंब है। 'जोला' (Zola) का भी मत है कि नाटक के पात्रों को रंगमंच पर दर्शकों के सामने अभिनय करते नहीं, सचमुच जीवन-व्यापार करते हुए दीख पड़ना चाहिये। पर क्या कोई कला जीवन की सचमुच अनुकृति हो सकती है? हम नाटकों के पात्रों से 'काल' की यथार्थ भाषा में संभाषण कराने में क्या कभी सफल हो सकते हैं? हमें यथार्थता का व्यापक अर्थ ही लेना चाहिये। ह्यूगो के शब्दों में कला में वस्तु का यथार्थ चित्र नहीं, यथार्थ होने की भ्रांति (Illusion of truth) होती है। हेडेलिन ने कहा है, 'नाटक के रंगमंच पर वस्तु ज्यों की

त्यों नहीं आती, वह आती है उसी रूप में जिस रूप में उसे आना चाहिये। कलाकार को अपनी कला के अनुरूप वस्तुको ढाल लेना चाहिये।" कालरिजने नाटक के संबंध में विभिन्न मतों का समन्वय करते हुए कहा है—'It is not a copy but an imitation of nature' (नाटक मानव जीवन की छाया नहीं है, उसकी अनुकृति है।) दूसरे शब्दों में वह जीवन के ढांचे में ढाली गयी वस्तु है।

१९ वीं शताब्दी में बुनाटियर ने नाटक के सम्बन्ध में एक नियम प्रचलित किया जिसके अनुसार नाटक को व्यक्ति की इच्छा-शक्ति का संघर्ष मात्र बतलाया गया था। इसका अर्थ यह है कि जब मनुष्य किसी बात की अभिलाषा करता है—इच्छा करता है—तो उसकी पूर्ति के लिये बाहरी-भीतरी संघर्ष खड़ा हो जाता है। नाटक की गति तभी तक चलती रहती है जब इच्छा की पूर्ति हो जाती है या फिर उसकी पूर्ति असंभव बन जाती है। इच्छा-पूर्ति हो जाने पर नाटक सुखान्त रूप धारण कर लेता है और अपूर्ण रह जाने पर दुखान्त।

हमारे यहां के आचार्यों ने भी इसी तत्व को "उद्देश्य" से अभिहित किया है।

बर्नार्ड शॉ ने, जो इब्सन के नाट्यरचना-तंत्रवादी कहे जाते हैं, एक स्थल पर लिखा है, 'मैं नाटक के नियमादि नहीं जानता। मैं तभी लिखता हूँ, जब मुझे प्रेरणा होती है। वह कब होती है, क्यों होती है, कह नहीं सकता। नाटक लिखते समय मैं अपनी जेब, प्रकाशक की जेब, रंगशाला के मैनेजर की जेब और दर्शकों की जेब का भी ख्याल रखता हूं।' शा ने व्यंगात्मक ढंग से अपने रचनातंत्र के सम्बन्ध में यही ध्वनित किया है कि वे नाटक को लोकरुचि और लोकहित की दृष्टि से ढालने की चेष्टा करते हैं। जनता कम समय में अधिक से अधिक मनोरंजन प्राप्त कर कुछ शिक्षा ग्रहण कर सके, यही उनके नाटकों का ध्येय रहता है।

यों पाश्चात्य नाटकाचार्यों ने नाटक के तीन मुख्य तत्व माने हैं। एक कथावस्तु, दूसरा पात्र जो कथा को व्याख्यासहित प्रस्तुत करते हैं, और तीसरा संवाद। अरस्तू ने अपने ग्रन्थ Poetics में नाट्य रचना के नियमों की चर्चा करते समय निम्न बातें कही है।

Fable (कथा), Characters (पात्र), Diction (शैली), Thought (विचार), Decoration (अलकार), and the music (संगीत)। नाटक में आवश्यक हैं। अरस्तूने कथा, और पात्र के अतिरिक्त शैली, विचार, अलकार तथा संगीत भी नाटक के लिये आवश्यक माने हैं। यथार्थवादी नाटकों में कथा, पात्र, विचार तथा शैली (भाषा) के तत्व तो स्वीकार किये जाते हैं, परन्तु अलकार (काव्य)

तथा संगीत के तत्त्व अनैसर्गिक माने जाते हैं। कुछ नाटक तो ऐसे भी लिखे गये हैं, उदाहरणार्थ मेटरलिंक का Les Avengles जिन में action (कार्य) बिलकुल नहीं, केवल मनोवैज्ञानिक संघर्ष में ही उनका विकास और अन्त हुआ है।

इब्सन के नाटकों की रचना-शैली का उपर्युक्त विवेचन करने के पश्चात, हम 'सिन्दूर की होली' की समीक्षा करते हैं।

नाटक का कथानक वर्तमान सामाजिक जीवन से लिया गया है। वह अधिक उलझन से भरा हुआ नहीं है और न विस्तृत ही है। उसमें व्यक्ति की समस्याओं को गूँथने का प्रयत्न किया गया है। इसीसे नाटक व्यक्तित्व प्रधान बन गया है। यह कह देना अप्रासंगिक न होगा कि समस्या—मूलक नाटकों में दो प्रकार की समस्याएं प्रस्तुत की जाती हैं। [१] व्यक्तिगत [२] समाज-गत।

इसमें प्रधान पात्र मुरारीलाल एक डिप्टी कलेक्टर है जो धन के लोभ से अपने मित्र की हत्या कर डालता है। यह रहस्य उसका मुन्शी माहिरअली ही जानता है। उसीके सहयोग से हत्याकांड संभव हो सका था। हत्या की विभीषिका को छिपाने तथा संभवत: उसका प्रायश्चित करने के लिये वह उसके पुत्र मनोजशंकर को अपनी कन्या अर्पित कर देना चाहता है और इसी उद्देश्य से उसकी शिक्षा पर धन व्यय कर उसे आय० सी० एस० बनाना चाहता है। लोभ की तृष्णा के कारण उसकी घूंसखोरी बढ़ जाती है। परिणामत: जमींदारों के अत्याचार भी बढ़ जाते हैं। भगवन्तसिंह नाम के एक जमींदार जायजाद की लालच से अपने भतीजे रजनीकान्त की, जो अत्यंत सुन्दर और होनहार युवक था, हत्या का षड़यंत्र रचता है और मुरारीलाल को घूंस देकर उसमें सफल भी हो जाता है। मुरारीलाल की कन्या चन्द्रकला, चित्रकला की अनुरागिनी होने के कारण विधवा मनोरमा को अपने घर में रख लेती है। मनोरमा के निष्कलंक सौन्दर्य पर मुरारीलाल की वासना—पूरित आँखें जम जाती हैं। इतना ही नहीं, मनोजशंकर भी चन्द्रकला की अपेक्षा मनोरमा की ओर ही अधिक आकर्षित होता है। परन्तु मनोरमा भावुकता में न बहकर अपने वैधव्य की, कला द्वारा उपासना करती है। हत्या के पूर्व रजनीकांत एक बार मुरारीलाल के यहां आया था जिसके तरुण सौन्दर्य पर चन्द्रकला और मनोरमा दोनों रीझ उठी थीं। मनोरमा की मुग्धता उसके चित्र में साकार हो जाती है। पर चन्द्रकला भीतर ही भीतर घुलती रहती है। वह मनोरमा के बनाये हुए चित्र पर अपनी धड़कनों को प्रतिपल चढ़ाने के लिए आतुर हो जाती है। इसी समय रजनीकान्त षड्यंत्रकारियों की लाठियों के प्रहार से

घायल होकर डोली में डिप्टी कलेक्टर के द्वार पर लाया जाता है—जीवन और मृत्यु के बीच संघर्ष की अवस्था में चन्द्रकला उसके पास दौड़ जाती है। वह मुस्कुरा कर उसकी ओर एक बार आँख उठाकर देख लेता है। उसकी यह मुद्रा चन्द्रकला को विक्षिप्त सा बना देती है। डाक्टर उसकी चिकित्सा करते हैं। मनोजशंकर भी वहां आ जाता है। पर उसकी उपस्थिति से भी उसके स्वास्थ्य में कुछ सुधार नहीं होता। मनोरमा रोग का ठीक निदान जानती है। अतः वह उसे भावुकतावश रजनीकान्त के काल्पनिक वैवाहिक वियोग की पीड़ा में जलने से रोकती है पर चन्द्रकला मानसिक संकल्प को ही प्रधानता देती है और उन्माद की दशा में हो, अस्पताल में पड़े हुए बेहोश रजनीकांत के हाथ से अपनी माँग में सिंदूर भर लेती है और इस प्रकार अपने घूसखोर पिता के रोष की तनिक पर्वाह न कर स्वतंत्र जीवन—यापन करने के लिये प्रस्तुत हो जाती है। अस्पताल में ही रजनीकात की मृत्यु हो जाने के बाद चन्द्रकला अपने को विधवा मान लेती है और विधवा जीवन व्यतीत करती है। मनोजशंकर को अपने पिता की मृत्यु का कारण माहिरअली से ज्ञात हो जाता है। उसके हृदय की उलझन मिट जाती है। मुरारीलाल के पापों का उद्घाटन हो जाता है और वह यह निर्णय नहीं कर सकता कि वह क्या करे और कहां जाये। कथानक की इतनी ही घटनाएँ हैं जो कम होने पर भी पात्रों की मानसिक उलझनों के कारण बाह्यात्मक न होकर अन्तर्मुखी अधिक हो गयी हैं। दूसरे शब्दों में, पात्रों का द्वंद्व बाहरी न हो कर भीतरी हो गया है। मनोरमा के अन्तर्द्वंद्व को लेखक ने बहुत जटिल बना दिया है। एक ओर समाज द्वारा आरोपित वैभव उसके सर पर अट्टहास कर रहा है, दूसरी ओर मुरारीलाल की तृष्णाभरी आँखें बार बार घूर उठती हैं। सम्मुख से मनोजशंकर का माधुर्य उसे सरोबार कर डालना चाहता है और पीछे से उसकी सहेली चंद्रकला का विवर्ण मुख उसे विवश बना देता है क्योंकि जिस रजनीकांत के प्रथम दर्शन ने चंद्रकला को मनोजशंकर के प्रति सदा के लिये उदासीन कर दिया था, वही दर्शन उसकी कला में रह रह कर स्पंदन भर रहा था। चंद्रकला की असंयत वृत्ति के प्रति सदय होकर उसने चित्र की सजीव प्रतिमा के चरणोंपर मौन भावनाएं ही अर्पित कीं और मनोजशंकर के आकर्षण को भी कला के समान ही अशरीरी रूप देने का उसका निश्चय उसे स्वयं पहेली बना रहा है। उसका यह व्यक्तिगत निश्चय उसके लिये सर्वथा आदर्श हो सकता है। पर यह सामाजिक समस्या का भी हल हो सकेगा, यह संभव नहीं दीखता। इसीलिये हमने ऊपर कहा है कि नाटक में समाजगत समस्याओं का हल नहीं है, व्यक्तिगत समस्याएं ही व्यक्ति वैचित्र्य के द्वारा हल की गई हैं। हमारे इस निष्कर्ष का समर्थन चंद्रकला तथा मनोजशंकर के विक्षिप्त आचरणों

से हो जाता है। मुरारीलाल रिश्वत लेता है पर इस जघन्य कार्य के ऊपर दार्शनिकता का आवरण भी चढ़ा देता है। उसका यह दार्शनिक तर्क पाठकों के मन में उसके प्रति होनेवाली कटुता को कम कर देता है। मनोजशंकर, चन्द्रकला, मनोरमा और मुरारीलाल समाज के Type characters (प्रतिनिधि चरित्र) नहीं कहे जा सकते। वे विशिष्ट चरित्र ही हैं।

माहिरअली और भगवन्तसिंह अवश्य प्रतिनिधि चरित्र कहे जा सकते हैं। माहिरअली से वातावरण के अनुरूप सामाजिक अपराध हो गये हैं पर उसके हृदय में सच्चे अर्थ में मुस्लिम भावना की पवित्रता रह रह कर लहरें मार जाती हैं। वह रजनीकांत की हत्या का षड्यंत्र जानकर चौंकता है। डिप्टी साहब को सतर्क करता है पर पेट की ज्वाला बड़ी निष्ठुर है। धर्म उसके आगे घुटने टेक देता है। लेखक ने माहिरअली के दिमाग में भी उन्माद भर कर मनोविज्ञान के सत्य की प्रतिष्ठा की है। उसकी आँखों के सामने नैतिक पाप स्वप्न को विकृत बनकर स्वभावत: नाच उठा है।

अभीतक पात्रों की मानिसिक कृति और विकृति के संबंध में ही कहा गया है जिससे व्यक्त होता है कि नाटक के पात्रों में भावुकता अधिक है, चिंतन उससे कम है और व्यापार बहुत ही कम है। लेखक ने उन्हें ज़िन्दगी की सड़क पर लाकर छोड़ दिया है। वे अपनी प्रवृत्तियों और परिस्थितियों के चक्कर में रुकते, थकते, ठोकर खाते हुए आगे बढ़ते गये हैं! 'मनोरमा और चंद्रकला नामक दो पात्रों को लेकर नाटककार ने भारतीय नारी समस्या की दो रेखाओं को स्पष्ट करने की चेष्टा की है। मनोरमा आठ वर्ष में ही विवाहित होती है और दस वर्ष में विधवा हो जाती है तथा तारुण्य में जीवन की भीषण समस्याओं का सामना करने को विवश होती है। उसके सामने समाज-प्रदत्त वैधव्य है, ऐसे पति के प्रति जिसको उसने कभी तारुण्य की आँख से एक बार भी नहीं देखा, जिसके प्रेमने कभी उसके मनमें एक बार भी सिहरन नहीं पैदा की। सजग होने पर उसके सामने संसार का वैभव मुरारीलाल के रूप में खड़ा हुआ है और हृदय के तारों से अपने जीवन को गूंथ देनेवाला मनोजशंकर उसके चरणों में लोट जाने को आतुर दीख रहा है। मनोरमा इन दोनों आकर्षणों को ठोकर मारकर अपने वैधव्य को खुशी खुशी स्वीकार करती है नाटककार ने मनोरमा को समाज-प्रदत्त वैधव्य के आगे नत-मस्तक कर समाज की रूढि पर सुंदर भावुकता की कूंची फेर दी है और उसे अत्यधिक रंगीन बना दिया है, बड़े कौशल के साथ। इस तरह भारतीय हिंदू-समाज की सांस्कृतिक भावना को उदात्त (sublime) रूप दिया गया है।

चन्द्रकला के रूप में शिक्षिता भारतीय नारी की समस्या है। वह समाज-द्वारा प्रदत्त अभिशाप या वरदानों में विश्वास नहीं करती। वह अपने ही कर्मों के कटु या मधुर फल भोगने में विश्वास रखती है। व्यक्ति-स्वातंत्र्य का आग्रह उसमें दीख पड़ता है। पिताद्वारा आयोजित और प्रस्तावित पति में उसकी आस्था नहीं जमती। वह प्रथम बार दृष्टि पथ में ठहर जानेवाले के साथ अपने सिंदूर की आजन्म होली खेलती रहती है। समाज इस प्रेत-व्यापार से सहमता है या चौंकता है, इसकी उसे पर्वा नहीं। Love at first sight (चक्षुराग) यद्यपि पाश्चात्य फैशन माना जाता है तो भी भारतीय संस्कार में अपरिचित चीज नहीं है। नाटककार ने आधुनिक समस्या का भी आधुनिक ढंग से हल न सुझाकर भारतीय प्राचीन संस्कृति की विजय ही घोषित की है—जहां स्त्री स्वप्न में भी किसी पुरुषका चिंतन कर आजीवन उसी की आराधना में अपने माँग के सिंदूर को सँवारती-सिंगारती रहती है। नाटककारने पश्चिमी शिक्षा, पश्चिमी आदर्श को हमारी अशान्ति का कारण माना है। वे हमारे विकास में बाधक हैं। अतः विषैले कीटाणु की तरह समाज के शरीर में उन्हें न प्रविष्ट होने देने का संकेत उसने अपनी कृति में किया है।

इस तरह हम देखते हैं कि पाश्चात्य समस्यामूलक नाटकों मे जहां आदर्श के प्रति सर्वथा उपेक्षा प्रदर्शित की जाती है वहां प्रस्तुत नाटक में उसी की मर्यादा को चरम लक्ष्य पर आसीन करने का प्रयास किया गया है। यथार्थ की भूमिपर आदर्श के गगनचुंबी प्रासाद को खड़ा कर भारतीय समस्या-नाटकों के एक नये रूप को प्रस्तुत किया गया है जिसमें रोमांस अधिक है, यथार्थ कम है। जीवन की जागृति की अपेक्षा जीवन का स्वप्न ही अधिक उन्मादकारी है।

समस्या मूलक नाटकों में भावावेश का महत्व नहीं माना जाता परंतु यदि सिंदूर की होली से भावावेग निकाल दिया जाय तो नाटक में कोई समस्या ही नहीं रह जाती। लेखक ने यहां वहां चुभते हुए व्यंग्य अवश्य किये हैं जो समस्या-नाटक के टेकनिक के अनुरूप हैं; उदाहरणार्थ वर्तमान शिक्षा के संबंध में मुरारीलाल का व्यंग एक अच्छी आलोचना है, "आजकल की शिक्षा में शब्दों का खिलवाड़ खूब सिखलाया जाता है।" इसी प्रकार पुरुष की वासना पर चुटकी ली गयी है—'क्षमा कीजिये पुरुष आँख के लोलुप होते हैं, विशेषतः स्त्रियों के संबंध में। मृत्यु शैयापर भी सुंदर स्त्री इनके लिये सबसे बड़ा लोभ हो जाती है।" "शारीरिक व्यभिचार से कहीं भयंकर है मानसिक व्यभिचार।" "चित्तवृत्ति का विरोध योग है और यही आनंद है।" "कला की साधना अपने लाभ के विचार से नहीं होती।" "कानून और कला का साथ नहीं हो सकता।" "आग के निर्धूम हो जानेपर उसकी दाहक शक्ति बढ़

जाती है।" "शिक्षा और कलाका संबंध कुछ नहीं है—कला का आधार तो है विश्वास और शिक्षा का संदेह।" "जिस वस्तुका अनुभव हुआ ही नहीं उसके अभावका दुख क्या ?" "विधवा अग्नि है, हलाहल है, कोई भी पुरुष उसे छूकर या पीकर जी नहीं सकता"। (मनोरमा के चरित्र ने इसी कल्पना को सत्य सिद्ध किया है)। "हिंदू विधवा से बढ़ कर कविता और दर्शन कहीं नहीं मिलेगा,"। "विधवा-जीवन तो केवल सेवा और उपकार का है,"—आदि वाक्यों में नाटककार ने अनुभव की सूक्तियाँ भरी हैं।

नाटक की भाषा में प्रांजलता नहीं है! यत्रतत्र वह प्रांतीयता से आक्रान्त है। व्याकरण का शैथिल्य खटकता है। परंतु जब पात्र भाव वेग में होते हैं तब ये दोष भी स्वभाविक से जान पड़ते हैं। नाटक के संवादों में शैथिल्य नहीं है—प्रकृत चोट है। वे कथानक को लक्ष्य तक बिना भार के पहुँचाते हैं और पात्रों के चरित्रों में जीवन भरते हैं। चंद्रकला और मनोरमा के संवादों में द्विजेन्द्रलाल राय और जयशंकर प्रसाद का भाव-प्रवणतामय आवेग स्पष्ट लक्षित होता है। इब्सन ने यूरोप के नाटकों को जिस काव्यातिरेक और आदर्श से निजात (मुक्ति) दी, उसी की प्राण-प्रतिष्ठा इस तथाकथित इब्सनवादी नाटक में की गयी है। इसे राष्ट्रीय वैशिष्ट्य कहें या तंत्र-दोष, इसका निर्णय हम पाठकों पर छोड़ते हैं। सिन्दूर की होली की आलोचना यदि एक वाक्य में की जाय तो यही कहा जा सकता है कि यह जीवन के लिये नहीं है, कला के लिये है; समाज के लिये नहीं है, व्यक्ति के लिये है।

गीति-काव्य और गुप्तजी

: १४ :

यूनानी समीक्षकों ने काव्य के मुख्य निम्न भेद किये हैं—

(१) Epic (वीर काव्य) यह वर्णनात्मक काव्य है, जिसमें युग की आत्मा का पूर्ण बिम्ब और राष्ट्र की संस्कृति का उद्घाटन होता है तथा जो लौकिक और अलौकिक घटनाओं से रंजित रहता है। हमारे यहाँ महाकाव्य के लक्षणों के अनुरूप यूनानियों का एपिक (Epic) काव्य होता है।

(२) Elegiuc (शोक-कविता) इसमें चिंतन-प्रधानता (Rafleciton) और गहरी करुणा होती है। अंग्रेजी में ग्रे कवि की 'एलेजी' प्रसिद्ध है।

(३) Lyric—(गीति कविता) में भावातिरेक (Emotion) का प्राधान्य होता है। ऐसी कविता 'लायर' या किसी अन्य वाद्य यंत्र के साथ गाई जाती थी। 'लीरिक' काव्य अत्यन्त भावावेश और अन्तःप्रेरणा का परिणाम होता है। हिंदी में 'गीत' या 'पद' इसी कोटि में आते हैं।

हमारे यहां कविता के प्रबन्ध और मुक्तक—ये दो मुख्य भेद किये गये हैं और फिर प्रबंध के भी दो भेद निर्धारित किये गये हैं:–[१] महाकाव्य और [२] खंडकाव्य। महाकाव्य अधिकांश में यूनानियों के 'एपिक' का पर्याय है। खण्ड-काव्य में जीवन के खण्ड विशेष का चित्रण होता है। पर कुछ काव्य ऐसे भी होते हैं जो न तो महाकाव्य के अन्तर्गत आ सकते हैं और न खण्ड काव्य के ही। इन्हें केवल 'प्रबन्धकाव्य' से अभिहित किया जाता है। मुक्तक में प्रबन्धत्व (कथा) से शून्य कोई भी स्वतन्त्र कृति (पद, गीति आदि) समाविष्ट हो सकती है। सूर और तुलसी के पद, बिहारी रहीम आदि के दोहे, 'प्रसाद' का 'आँसू' आदि मुक्तक काव्य कहे जा सकते हैं। मुक्तक काव्य गेय या अगेय दोनों हो सकता है। यहां केवल मुक्तक के गीति काव्य-रूप पर ही विचार किया जा रहा है। गीति काव्य की परिभाषा देते हुए बाबू श्यामसुन्दर दास ने लिखा है—"गीति काव्य में कवि अपनी अन्तरात्मा में प्रवेश करता है और बाह्य जगत को अपने अन्तःकरण में ले जाकर उसे अपने भावों से रंजित करता है।—उसमें शब्द की साधना के साथ साथ स्वर (संगीत) की साधना भी होती है।" हडसन कहता है—"शुद्ध गीति काव्य से एक ही भाव, एक ही उमंग भाववेग के

साथ संक्षिप्त रूप में व्यंजित होती है—विस्तार उसके प्रभाव को कम कर देता है।" हर्बर्टरीड 'सूक्ष्म अनुभूतिमय रचना' को गीति काव्य मानता है और 'राईस' भाव या भावात्मक विचार के लयमय विस्फोट को गीति काव्य कहता है।

आधुनिक हिंदी की प्रसिद्ध गीतिकार श्रीमती महादेवी वर्मा कहती हैं—"सुख दुख की भावावेशमयी अवस्था का विशेष गिने-चुने शब्दों में स्वर-साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है।"

इन व्याख्याओं से यह स्पष्ट है कि गीति काव्य में निम्न उपकरण आवश्यक हैं (वह स्वतंत्र भी रह सकता है और किसी प्रबन्ध काव्य का अंग भी बन सकता है।)

(१) भावावेश (Emotion)
(२) आत्माभिव्यंजना
(३) गेयता
(४) पद-लालित्य
(५) अन्विति—सम्पूर्ण पद एक भाव विशेष को उद्घाटित करे।
(६) श्रृंगार, वात्सल्य, करुण या शांत रस में से किसी एक की स्थिति। कोमल भावना ही गीत-काव्य का प्राण है।

गीति काव्य के इतिहास की चर्चा करते समय कई समीक्षक वैदिक मंत्रो की गीतात्मकता का उल्लेख करते हैं। बाबू गुलाबराय ने श्रीमतभगवद्गीता को भी गीति काव्य के भीतर परिगणित कर लिया है पर, जैसा कि बाद में उन्होंने स्वीकार किया है, जयदेव के 'गीत गोविंद' से ही गीति काव्य की साहित्यिक परम्परा प्रारम्भ होती है—ललित लवंगलता परिशीलन कोमल मलय समीरे" और "चंदन चर्चित नील कलेवर पीत वसन वनमाली" जैसी कोमल पदावली के प्रवहमान ध्वनि-माधुर्य से किसका मस्तक नहीं डोल उठेगा? उसके बाद विद्यापति के पदों में जयदेव की गीति-माधुरी गहनता से सिंचित जान पड़ती है—

"सखि हे! कि कहब किछुनहिं फूर
सपन कि परतख कहए न पारिए
किए नियरे किए दूर।"

कबीर तथा अन्य 'निरगुनिया' [मलूक, रैदास, दादू आदि] संतो के कुछ पदों में भी गीति काव्य के तत्व पाये जाते हैं। सूर और अष्टछाप के कवियोंके विशेषतः नन्ददास के पदो में जयदेव की भाव और गीति माधुरी का स्पष्ट प्रभाव पड़ा है। अष्टछाप के कवियों के अतिरिक्त अन्य कृष्ण काव्य के कवियो में भी गीतात्मकता पाई जाती है। बात यह है कि कृष्ण की बाल और यौवन

क्रोड़ का विभोरात्मक चिंतन गीतों द्वारा ही संभव था। इन सब में 'मीरा' के गीत बहुत प्रसिद्ध हैं। उनके गीतो की विरहाकुल पुकार न केवल हिंदी क्षेत्र में व्याप्त है, प्रत्युत उसने गुजराती और बँगला साहित्य को भी अभिभूत कर डाला है। सूर, तुलसी, कबीर और मीरा सचमुच हमारे राष्ट्र–कवि हैं जिनकी 'वाणी' भाषा की क्षेत्र--सीमा में कभी नहीं बँधी सूर के "बिन गोपाल बैरन भई कुंजें" "अखियां हरिदरसन की प्यासी" कबीर के–'दुलहिन, गावहु मंगल चार' और 'झीनी झीनी बीनी चदरिया' तुलसी के "अबलौं नसानी अब न नसइहौं" और मीरा के "बसो मेरे नैनन में नँदलाल" "हेरी मैं तो प्रेम दिवाणी, मेरो दरद न जाणे कोय" आदि गीतों की सार्वभौमता से कौन अपरिचित है? रीतिकाल में मुक्तक तो लिखे गये पर उनमें गीति तत्व की विशेषता नहीं पाई जाती। यद्यपि कवित्त सवैया दोहा आदि छन्द गाये जा सकते हैं पर उनमें संगीत-टेक की कमी है।

आधुनिक काल में बाबू हरिश्चंद्र के कतिपय नाटकों तथा स्फुट पद्यों में मधुर गीतात्मकता मिलती है। उनके 'सखि! ये नैना बहुत बुरे,' जैसे गीतों में 'सूर' की पद-मिठास है। हरिश्चंद्र–मंडल के कवि बदरीनारायण 'प्रेमघन' ने भी अनेक गीतों की रचना की है। 'गुजरिया क्यों हँसि हँसि तरसावत', "बसौ इन नैननि में नँदनन्द" आदि गीत 'प्रेमघन सर्वस्व' में संकलित हैं। हरिश्चंद्र कालीन कवियों के पश्चात पं० श्रीधर पाठक ने भी भारत भक्ति आदि विषयों पर गीत लिखे हैं। पाठक जी हिंदी में रोमांचवाद (Romanticism) के प्रमुख प्रवर्तक हैं। उन्होंने रीतिकालीन अति शृंगार भावना को त्याग कर प्रकृति के शुद्ध तथा नवीन रूप में ही दर्शन नहीं किये हैं, प्रत्युत तत्कालीन कवित्त - सवैया आदि रूढ़ छंदों के प्रति भी विद्रोह किया है। फिर हम आगरा के कविरत्न सत्यनारायण को सूर की पद- पद्धति पर सरस गीत लिखते हुए पाते हैं। सत्यनारायण 'ब्रजकोकिल' कहलाते थे (पं बनारसी दास चतुर्वेदी ने उनकी जीवनी में उनके भावुक हृदय का चित्रांकन किया है।) उनके असामयिक अवसान से हिंदी के गीतिकाव्य की बड़ी क्षति हुई है। उनके 'भयो क्यों अनचाहत को संग' और

'माधव! अब न अधिक तरसइये।
'जैसी करत सदा सों आये, वही दया दरसइये'

आदि गीतों में कितनी करुणा है! कलकत्ता के 'माधव' शुक्ल भी राष्ट्रीय गीत लिखते रहे हैं।

इस प्रकार द्विवेदी-युग तक यद्यपि छुट-पुट गीत अवश्य प्रकाश में आते रहे पर इनमें धारा का वेग छायावाद-युग में ही दिखाई दिया। मैथिली

शरण गुप्त, जयशंकर 'प्रसाद' महादेवी वर्मा, 'निराला', 'पंत', रामकुमार, 'बच्चन' आदि ने गीतों की विशेष रूप से रचना की है। छायावादी कवियों के गीतों में दो भेद स्पष्ट दिखलाई देते हैं—

(१) सूर, तुलसी आदि भक्त कवियों की परम्परा पर पद-शैली के गीत—

(२) आधुनिक शैली के गीत जिनमें अंग्रेजी और कथित उर्दू छन्दों तक का समावेश पाया जाता है। 'निराला' ने छंदों के कई प्रयोग किये हैं।

भावों में केवल भक्ति ही नहीं, (मध्यकालीन भक्ति-भावना कहाँ है?) लौकिक प्रेम, देश-प्रेम (क्रांति) और प्रकृति प्रेम का विशेष उल्लेख पाया जाता है। परन्तु अधिकांश गीतों में लौकिक मिलन और विरह की व्यञ्जना ही पाई जाती है।

इस निबंध में बाबू मैथिलीशरण गुप्त के गीतों की चर्चा की जा रही है। उनके गीत नई-पुरानी दोनों पद्धतियों पर लिखित हैं। 'साकेत' और 'यशोधरा' के गीत अधिक मधुर हैं; 'कुणाल गीत' में भाव-पक्ष की अपेक्षा बुद्धि-पक्ष प्रबल है। साकेत में "दोनों ओर प्रेम पलता है, सखि पतंग भी जलता है, दीपक भी जलता है।" और यशोधरा में 'सखि! वे मुझ से कह कर जाते' गीत अधिक प्रसिद्ध हैं गुप्त जी के गीतों में वेदना की गहरी अनुभूति और कोमल शब्द-योजना पाई जाती है तथा छायावाद-युग की विभिन्न प्रवृत्तियों के दर्शन भी उनमें होते हैं। परोक्ष सत्ता के प्रति अभिलाषा और जिज्ञासा, दृश्य जगत में मानव और मानवेतर पदार्थों के प्रति रागात्मक सम्बन्ध, देशानुराग, स्वच्छंद छन्दता और लाक्षणिक अभिव्यक्ति छायावाद-युग की प्रवृत्तियाँ कही जाती हैं। उदाहरण के लिए उनकी कतिपय गीत-पंक्तियां उद्धृत की जाती हैं—

(१) परोक्ष सत्ता के प्रति अभिलाषा-जिज्ञासा—

'सखे! मेरे बन्धन मत खोल,
आप बंध्य हूँ, आप खुलूँ मैं—
तू न बीच में बोल!'

और

'रुदन का हँसना ही तो गान,'
गा गा कर रोती है मेरी हृत्तंत्री की तान।

(२) मानव—व्यापार के प्रति राग—

'मुझे फूल मत मारो
मैं अबला बाला वियोगिनी कुछ तो दया विचारो।'

(३) देश-प्रेम—

कवि के स्वदेश-संगीत में देशानुराग की अनेक रचनायें संग्रहीत हैं। "ऐसी दशा करो हे देव ! भारत में फिर उग आवे"

और

"विश्व तुम्हारा भारत हूं मैं ?
हूं या था चिन्तारत हूं मैं।

(४) स्वच्छन्द छन्दता—

'यह हंसी कहां ?
तुम कौन कहां ?
यह वंचकता कैसी कठोर !
चोर ! चोर !

गुप्तजी के कई गीतों में जहां भावों की गहनता पाई जाती है वहां कुछ गीतों में पद-लालित्य शिथिल भी पड़ जाता है। यशोधरा में 'चला गयारे. चला गया, छला गयारे छला गया' ऐसा ही गीत है और 'कुणाल गीत' में भी 'खूंट' से 'ऊंट' बांधने में गीत खड़ाखड़ा उठा है।

छायावाद-युग के गीति-कवियों के 'प्रसाद' पंत और महादेवी में पद-लालित्य विशेष पाया जाता है।

प्रसाद का 'बीती विभावरी जागरी',
'उस दिन जब जीवन के पथ पर',
"काली आंखों का अंधकार—
जब होजाता है वार-पार"
महादेवी का "प्रिय चिरंतन है सजनि !
क्षण क्षण नवीन सुहागिनी मैं"
पंत का "लोगी मोल, लोगी मोल
तरल तुहिन वन का उपहार"

'निराला' का "जागो फिर एक बार" आदि गीतों की भावोन्वित पद-योजना पाठक को शीघ्र प्रभावित कर लेती है। गुप्तजी के कुछ गीत आवश्यकता से अधिक लम्बे भी होगये हैं। गीतों की अतिकायता जैसा कि हडसन का मत है गीतिकाव्य के 'रस' को कम करने में सहायक होती है। इतना सब होने पर भी गुप्तजी के गीतों की यह विशेषता है कि उनमें सस्ती भावुकता नहीं पाई जाती—वे जीवन की किसी गंभीर स्थिति या दार्शनिकता को प्रतिध्वनित करते

हैं। "दोनों ओर प्रेम पलता है, सखि पतंग भी जलता है दीपक भी जलता है" जैसी मार्मिक प्रेम व्यंञ्जना हिन्दी के बहुत कम गीतों में मिलती है। पतंगे का प्रेम में जलना तो सभी ने देखा है पर दीपक का "स्नेह" में जलना गुप्तजी ही अनुभव कर सके। यह सच है उनके अधिकांश गीतों में भावपक्ष की अपेक्षा बुद्धिपक्ष प्रधान है और यह गुण प्रबन्ध कविता के अधिक अनुरूप है और गुप्तजी का प्रबन्ध कवि ही विशेष जाग्रत है। पर गुप्तजी में समय के अनुरूप अपने को ढाल लेने की अद्भुत क्षमता भी है। यही कारण है, छायावाद-युग की गीति-धारा में अपने भी अपनी अञ्जलि प्रदान की है।

'गीतिका' का कवि

कलकतिया 'मतवाला' के कालमों में अस्तव्यस्त रेखाओं के बीच नवीन भावों को भरने वाले व्यक्ति की तलाश महीनों हिन्दी-संसार में होती रही, "यह 'निराला' कौन है? क्या लिखता, है? न जाने क्या व्यर्थ प्रलाप करता है;" 'पद्माकर', 'केशव' आदि के साथ बढने वाले कहते।' 'इतनी सुन्दर भाव-व्यञ्जना इसमें है'—बीसवीं सदी के प्रकाश को अपनी आंखों में उतारने वाले कहते! बीते हुए कल और चलने वाले आज का यह संघर्ष स्वाभाविक था—अनिवार्य भी था! 'न न' कहते 'निराला' के सर पर हिन्दी में निरालापन को सृजित करने का सेहरा बँध ही गया। वे 'प्रसाद', 'निराला' और 'पंत' त्रयी-मणि-मालिका के बीच के 'मणि' बन ही गये। 'निराला' पर अस्पष्टता का दोष लगाया गया, हिन्दी के साधारण पाठकों द्वारा नहीं, ऐसों द्वारा जिनकी लेखनी की आवाज़ में धौंस थी; ताकत थी। पर जैसा कि 'प्रसाद' जी लिखते हैं, उनके आलम्बन के प्रतीक, उन्हीं के लिए अस्पष्ट होंगे, जिन्होंने यह नहीं समझा है कि रहस्यमयी अनुभूति, युग के अनुसार अपने विभिन्न आधार चुना करती है।" पहचाने हुए 'आलम्बन-प्रतीक' से आगे सोचने का नवीन धारा-विरोधियों को 'अभ्यास' ही नहीं है। उनकी काव्यकसौटी पर जंग चढ़ गया है, वे उस पर नवीन शताब्दी का :'रंग' नहीं चढ़ाना चाहते! यही वजह है कि उनके द्वारा की गई नए काव्य की आलोचनायें तथ्य-हीन होती हैं। वे काव्य का आवरण ही देखना चाहते हैं, उसके प्राण के साथ तन्मय नहीं होना चाहते। यही वजह है कि वे कवि के निकट नहीं आ पाते।

हिंदी में गीति-साहित्य नया नहीं है। कबीर, सूर, तुलसी, मीरा आदि के गीतों ने जन-साधारण के कण्ठों में माधुर्य प्रवाहित किया है। इनमें से कबीर, तुलसी और मीरा के गीतों ने हिन्दी-अहिन्दी दोनों भाषा-भाषियों के हृदय को स्पर्श किया है—महाराष्ट्र-गुजरात आदि प्रांतों में इनके 'गीतों' ने ही 'हिन्दी' का प्रचार किया है और यदि हम यह भी कहें कि इन्हीं की वजह से हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनने में सहायता मिली है, तो हम 'सीमा' को लाँघने के दोषी नहीं समझे जायँगे। श्रीयुत 'निराला' की इन पंक्तियों में तथ्य है—" कबीर निर्गुण ब्रह्म की उपासना में आधुनिक से आधुनिकों के मनोनुकूल होते हुए भी

भाषासाहित्य-संस्कृति में जैसे अभाजित हैं, वैसे ही सूर, तुलसी आदि भाषा संस्कार रखते हुए भी कृष्ण और राम की सजीव उपासना के कारण आधुनिकों की रुचि के अनुकूल नहीं रहे।" आगे इसे परिमार्जित करते हुए कहा गया है, "यह सत्य है कि राम और कृष्ण का ब्रह्मरूप अब अनेक आधुनिक समझते हैं और इन अवतारी पुरुषों और इन पर लिखी गई पदावली से उन्हें हार्दिक प्रेम है, पर फिर भी इनकी लीलाओं के पुनः पुनः मनन, कीर्तन और उल्लेख से उन्हें तृप्ति नहीं होती, फिर खड़ी बोली केवल बोली मे ही नहीं खड़ी हुई, कुछ भाव भी उसने ब्रजभाषा संस्कृति से भिन्न, अपने कहकर खड़े किये हैं यद्यपि वे बहिर्विश्व की भावना से संश्लिष्ट हैं।"

पुरानी परिपाटी (Old order) का परिवर्तन आवश्यक है। नवीनता की ओर आकृष्ट होना मनुष्य मात्र की प्रवृत्ति है। जो साहित्य उसकी इस प्रवृत्ति को प्यासी रखता है, वह लोकप्रिय कैसे रह सकता है?

"गीतिका" में 'निराला' के १०१ गीत संकलित किये गए हैं। 'गीतों' की रचना में कवि 'संगीत शास्त्र' के आँगन से नहीं भागे। प्राचीन गीतों में संगीत पर अधिक, काव्य पर बिलकुल कम ध्यान दिया जाता रहा है। गायक, गीतों में शब्दों को जोड़-तोड़ कर पद को अपने 'शास्त्र' में जमा लेते हैं पर निराला ने अपनी शब्दावली को काव्य के स्वर से भी मुखरित करने की कोशिश की है। ह्रस्व-दीर्घ की घट-बढ़ के कारण पूर्ववर्ती गवैये शब्दकारों पर जो लाँछन लगता है, उससे भी उन्होंने बचने का प्रयत्न किया है।

कई गीत सजीव हैं, उनमें शब्दों ने ही एक सुन्दर चित्र खींच दिया है। 'सोचती अपलक आप खड़ी, कल्पना क कानन की रानी' 'कब से वह देख रही, प्रिय' आदि इसी कोटि की रचनाएं हैं। प्रेम से भीगे हुए हृदय की आत्म विस्मृति कितनी मधुर है :—

प्यार करती हूँ अलि
इसलिये मुझे भी करते हैं वे प्यार।
बह गई हूँ अजान की ओर,
तभी यह बह जाता संसार।

....

आप बही या बहा दिया था,
खिची स्वयं या खींच लिया था
नहीं याद कुछ कि क्या किया था
हुई जीत या हार।

"खुले नयन जब, रही सदा तिर
स्नेह–तरंगों पर उठ उठ गिर
सुखद पालने पर मैं फिर फिर
करती थी शृंगार।"

इन पंक्तियों में शब्द और भाव का सारल्य सराहनीय है। पर यह सारल्य गीतिका के प्रत्येक गीत में प्राप्य नहीं है। यही वजह है कि वे घर घर की चीज़ नहीं हो सके! भावों में उच्च अभिव्यंजना के होते हुए भी वे कठिन शब्द-परिधान की वजह से जन-साधारण तक नहीं पहुँच सकते।

और हम 'निराला' को जन-साधारण का कवि मानते भी नहीं। वे तो परिष्कृत और परिपक्व मस्तिष्क के हृदय–तन्तुओं को छूने के लिए ही अवतरित हुए हैं। साहित्य की ऊँची भूमिका पर बैठकर जो इन पंक्तियों को गायेगा, उसी का मस्तक भावावेग से झूम सकेगा। 'गीतिका' हिन्दी पद्य-साहित्य की एक निधि है; जो हिन्दी की ऊंची से ऊंची परीक्षाओं में अध्ययन के लिए रखी जा सकती है। इस दृष्टि से 'गीतिका' के एकाध गीत को हम इस संग्रह में रहने देने के पक्ष में नहीं है। ४४ पृष्ठ के नं० '४१' के गीत में

" प्रियकर कठिन उरोजपरस कस कसक मसक गई चोली,
एक-वसन रह गई मन्द हँस अधर-दशन अन-बोली।
कलीसी काँटे की तोली।"

यद्यपि पूरा गीत बहुत मधुर है पर इन पंक्तियों की वजह से वह संग्रह में एक ऐसे तत्व को प्रश्रय दे रहा है जिसका संग्रह भर में अभाव है। जिन दोषों के लिए हम प्राचीन कवियों को कोसते आ रहे हैं, वे हमारे आधुनिक श्रेष्ठ कवियों की सुन्दर रचनाओं में उच्छ्वसित हैं, यह हम ठीक नहीं समझते! 'गीतिका' के अध्ययन करने वालों के लिए पुस्तक के अन्त में 'सरलार्थ' दे दिया गया है पर वह पर्याप्त नहीं है।

पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने 'गीतिका' के गीतों में रहस्यवाद की धारा देखी है। वे लिखते हैं "उनके अधिकांश पदों में मानवीय जीवन के चित्र हैं सही पर वे सब के सब इस रहस्यानुभूति से अनुरंजित हैं।" पर गीतिका में रहस्यवाद का वही रूप नहीं है जिसमें आत्मा की परमात्मा के प्रति जिज्ञासा या अभिलाषा व्यक्त होती है; उसमें देश-प्रेम, नारी-रूप-चित्र, प्रकृति-दर्शन आदि का भी समावेश है।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि 'गीतिका' से ही कवि का सगीत स्रोत नहीं झरा है, इसके पहले "परिमल" में भी हिन्दी संसार उसके गीतों का आस्वाद कर चुका था। इधर प्रगतिवादी युगमें विनोद भरे गीतों के बाद अब पुनः निराला छोटे छोटे भावपूर्ण गीत लिख रहे हैं जो पद-लालित्य और माधुर्य में उनकी कीर्ति के अनुरूप हैं। -

---

एक गद्यगीत कृति की भूमिका : १६ :

[सुश्री दिनेशनन्दिनी ने हिन्दी गद्य-गीत के क्षेत्र में अपना विशेष स्थान बना लिया है। श्रीमती महादेवी वर्मा के समान उनके गद्य-गीतों का एक ही स्वर है—निराशा पूर्ण वेदना जिसमें जीवन की अतृप्ति उच्छ्वसित होती रहती है। अब तक उनके कई गद्य-गीत-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें शबनम, मौक्तिकमाल, दुपहरिया के फूल, 'वंशीरव' मुख्य हैं। यौवन और प्रेम के मातल भावों के अनुरूप भाषा भी उर्दू मिश्रित है। निम्न पंक्तियाँ "वंशीरव" नामक गद्य-काव्य-सग्रह की भूमिका का अंश है। भूमिका यद्यपि गद्य-काव्य के ढंग पर प्रारम्भ होती है तो भी उसमें आलोच्य गद्य-काव्य और कवित्रियी की मनोभूमि पर प्रकाश डालने की चेष्टा की गई है।]

पुस्तक पढ़ने पर यह नारी-जीवन-चित्र मेरी आँखों के सामने झूल जाता है:—

उसने शैशव में ही ज्योत्स्ना के अमी-जल से स्नान किया; अमानिशीथ के अञ्जन से आँखों को आँजा; वन-उपवन के पुष्पाभरण से अपने अङ्ग सजाये; स्नेह से प्राणों का दीप सँजोया; धड़कनों से प्रतीक्षा के पल गिने; और कानों में परिचित पद-चाप सुनने की आतुरता भरी। जीवन के कई क्षण स्मृतियों का भार लेकर आये और आँसुओं का उपहार देकर चले गये; आकाश में अनगिनती रंग चमके और विस्मृति के समान धुँधले हो गये पर नयनों की शाखों पर वह 'दृश्य' नहीं भूला जो उसे आत्म-विभोर बना देता—अपने में आत्मसात कर लेता।

वह हर सौन्दर्य में 'उसकी' मादकता देखती है, 'उसके' निकट पगों में कम्पन भर कर अभिसार करती है पर 'उसके' निकटतम पहुँचते ही वह चौंक उठती है—अरे यह वह तो नहीं है जिसके लिये मेरी व्यथा मुसकुराती है; आत्मा लजाती है। उसका प्रत्यावर्तन होता है, वह बाहर किसी में न खो अपने में ही खो जाती है।

कुछ समय बाद जैसे उसकी 'सुरत' जागृत होती है। वह सोचने लगती है। उसके 'अपने' ने स्वयं उसके द्वार तक कभी आने की उदारता की थी। उस समय रात थी और सरोवर के वक्ष पर चाँद चमचमा रहा था। वह स्नान कर शिला-खण्ड पर खड़ी बाल सुखा रही थी और अपना आत्मनिवेदन 'उन'

तक पहुँचाने के लिये 'हंस' से प्रार्थना कर रही थी। उसी समय मधुपर्क का पावन पात्र लिये 'वे' आये पर उनके चरणों की रहस्यमयी ध्वनि नहीं सुन पड़ी। अतः स्वागत की रस्म पूरी नहीं कर सकी। उन्होंने समझा उनकी उपेक्षा हुई। वे खीझ कर चल दिये। तब से वह 'वस्ल' के सुबह की अपलक प्रतीक्षा कर रही है।"

फूलों की अञ्जलि भर कर फिर से वह 'उनका' आह्वान कर रही है। उसके 'स्वागत' का साज कवियित्री के शब्दों में सुनिये—

"सखियों ने मिलकर शयनागार सजाया; रत्नजटित पर्यङ्क पर मोतियो की झालर लगायी; अर्धविकसित वेले की कलियों की चाँदनी तानी और राकापति की रश्मियों ने वातायन का अवगुण्ठन खींचा। श्रृङ्गार-पटु नायिका ने मेरे कुसुम-कोमल कुन्तलों को सुवासित जल से धोकर मेरा श्रृङ्गार किया और माँ मेरी स्वर्ण का दीप-थाल मुझे थमाकर ओझल हो गई। मैं, मिलन की अभिलाषा लिये, दीपक को हाथ की ओट कर, रोमाञ्चित अङ्गों से तुम्हारे स्वागत के लिये कब से खड़ी हूँ। न जाने कब तुम आकर सुहाग की डिबिया से सिन्दूर निकाल मेरी माँग भरोगे और मैं तुम्हारी आरती उतार तुम में लीन हो जाऊँगी।"

उसका यह सिंगार रोज कुम्हला जाता है। वह अपनी सखी से कहती है— "देख तो यह बकुल का हार यों ही सूख रहा है; गुलाब का इत्र और मृग-मदमिश्रित चन्दन मेरे सूने शयन-कक्ष में व्यर्थ ही अपनी सुरभि फैला रहे हैं। मेरा मन अनमना हो रहा है; मेरे अङ्ग-प्रत्यङ्ग फड़क रहे हैं, और मैं छत पर बैठी कागा के उड़ने का आसरा देख रही हूँ।"

उसकी ईर्ष्या उसके भाग्य पर जल उठती है—"सुभगे, तुझे पल में प्रिय मिले पर मुझे तो साधना करते युग-युग बीत गये तो भी मेरे घनश्याम न मिले।"

'वंशीरव' के उपर्युक्त उच्छ्वासों में जिस 'राधा' का यह रूप चित्रित हुआ है उसमें हम विरहाकुल प्रतीक्षा के अश्रु ही नहीं देखते, मिलन के मधुर क्षणों का उल्लास भी बिलसते हुए पाते हैं पर ऐसा प्रतीत होता है कि मिलन की सत्यता पर 'दिनेश नन्दिनी' की 'राधा' का विश्वास नहीं है। विद्यापति की 'राधा' के समान वह भी यह अनुभव करती है कि 'यह स्वप्न है या प्रत्यक्ष है?' यही कारण है कि 'मिलन' का हर्ष अधिक समय तक नहीं ठहर पाता; वह कमल-पत्र पर निपातित ओस-कण के समान शीघ्र ही ढलक जाता है! 'वंशी-रव' की राधा एक भोली-विवेकशून्य भावुक नारी है जो प्रत्येक 'सौन्दर्य' में अपने 'आराध्य' को देखना चाहती है पर अधिक समय तक उस पर आँखें जमा नहीं पाती। अतः हम किसी एक केन्द्र पर उसकी भावना को सघन होते नहीं देखते।

उसकी खोज जारी है। युग-युग से बिछुड़े 'देवता' के द्वार तक वह कब तक पहुँच पायेगी; इसका उत्तर सदा प्रश्न ही बना उसे सताता रहता है। जिस दिन प्रश्न मिट जायगा, उसकी विह्वलता का ही अन्त न हो जायगा, उसका अपना अस्तित्व भी न रह जायगा। आज तो हम उसकी आत्मा से बंगाली बाउल की यह चीत्कार ही सुनते हैं—

"ओ पार थे के बजाओ बाँशी ए पार थें के शुनि
अभागिया नारी आमि, साँतार नाहिं जानि।
चाँद काजि, बले बाँशी सुने केदे मरि।
जीमुना जीमुना आमि ना देखेले हरि।"

(तुम उस पार वंशी बजा रहे हो और मैं इस पार उसकी ध्वनि सुन सुन कर व्याकुल हो रही हूं। मैं अभागिन नारी तैरना नहीं जानती। मेरी बेचैनी बढ़ती जाती है। मैं हरि को देखे बिना नहीं जीऊँगी।) तभी 'वंशीरव' के गीतों में हम नारी की व्यथा की तीव्रता सुनते हैं। कितना उत्पीड़न भरा हैं इन शब्दों में—"नारी भावों का उतार-चढ़ाव अपने आँसुओं में लपेट काल की अवज्ञा कर न जाने कब से संसार की वेदना को आँचल में बाँध प्रेम का भार ढो रही है।"............ "रात्रि की विजन घड़ियों में ही नारी की व्यथा रो सकती है। तारों की तड़प उसे सोने नहीं देती।" वह जानती है कि यहाँ—इस लोक में 'वे' नहीं मिलेंगे। इसीलिये कहती है कि मैं जीवन से वैर करती हूँ और मृत्यु से मैत्री जोड़ती हूं। और यदि कहीं 'वे' मिल जायँगे तो वह 'उनसे' कहेगी—"कजरारी पलकों से प्रस्वेद पोंछ प्रेम की प्रथम कहानी सुनाते हुए मुझे 'उस पार' ले जाना।"

'राधा' हिन्दी में प्रेम की पावन प्रतीक मानी जाती है। उसने जयदेव से लेकर आज तक न जाने कितने कवियों के संगीत में माधुर्य भरा है। कभी कवि अपने को तटस्थ रख उसकी सुख-दुख की घड़ियों का सिंगार करते हैं और कभी वे उसी में लीन हो स्वयं उच्छ्वसित हो उठते हैं। प्राचीन कालीन कवियों ने तटस्थ होकर प्रेम की प्रतिमा राधा में प्राण-प्रतिष्ठा की। ऐसा करते समय उन्होंने प्रतिमा के 'शरीर' को सँवारने में बड़ा सुख अनुभव किया। आज का कवि अपने में ही 'राधा' को प्रतिबिम्बित कर उसकी व्यथा-कथा को व्यक्त करता है। जहाँ तक भावानुभूति का सम्बन्ध है वहाँ तक दोनों में कोई अन्तर नहीं है। अन्तर आता है अनुभूति की अभिव्यञ्जना में।

आज का कलाकार अधिक साहसी और ईमानदार है। वह परिचित प्रतीकों के आँचल में छिप कर अपने आँसुओं को नहीं पोंछना चाहता। 'वंशीरव' की कवियित्री में युग की इस भावना का लोप नहीं है।

शैली से ही कलाकार के व्यक्तित्व का बोध हो जाता है। 'रेले' ने ठीक ही कहा है कि "Good style is the greatest revealer—it lays bare the soul." वह अपने स्रष्टा के अन्तर की मूक भाषा को मुखर बना देती है। 'दिनेशनन्दिनी' की अभिव्यञ्जना में मौलिकता है, निरालापन है और है खींचने वाला अपनाव।—"सुनो तो...." सुनकर कौन दो क्षण नहीं रुकेगा ? 'रिमझिम रिमझिम बरसे रे बदरवा' की लय में जब उसके गीत आर्द्र हो उठते हैं तो 'गद्यता' का भान ही नहीं होता। वे किसी पद की टेक के समान भाव में संगीत का माधुर्य भर देते हैं।

उन्मादक रस उँड़ेलनेवाली भाषा में उर्दू शब्द शीराजी का काम करते हैं। उनकी आत्मा भावों के साथ सहज ही एक हो जाती है। पर, वंशीरव में उर्दूपन कवियित्री की अन्य रचनाओं की अपेक्षा कम है। गद्यगीतों के लिए जिस प्रवाही भाषा की अपेक्षा होती है वह 'दिनेशनन्दिनी' की रचनाओं में स्वाभाविक रूप से विद्यमान है। हिंदी में किसी भी लेखक के 'गद्यगीतों' में इतनी भावानुरूपिणी भाषा की 'कल-कल'–मुखरता नहीं मिलती।

गद्य गीत का स्वरूप यद्यपि गद्य का होता है पर उसकी आत्मा में भाव विशेष की गीतात्मकता होती है, ठीक उसी तरह जिस तरह हम किसी सुन्दर 'गीतिकाव्य' (Lyric) में पाते हैं। गद्यगीत के लिए निम्नलिखित उपकरण आवश्यक हैं—[१] भावावेश (emotion), [२] अनुभूति की गहराई, [३] प्रवाही भाषा।

जिस प्रकार 'लीरिक' में एक ही भाव–रस स्रवित होता है उसी तरह गद्यगीत में भी एक ही भाव की अनुभूति तीव्र होकर भावावेश के सहारे व्यक्त हो जाती हैं। भाषा के प्रवाही रहने से भाव गा उठता है।

हिन्दी में गद्यगीत के अतिरिक्त गद्यकाव्य शब्द भी प्रचलित है। गद्य-काव्य और गद्यगीत में अन्तर है। गद्यगीत में एक भाव की अभिव्यक्ति होती है और भावावेश का उपकरण प्रधान होता है। गद्यकाव्य में कल्पना तत्व की प्रबलता होती है। उसमें गेयता अनिवार्य नहीं है। उसका विस्तार महाकाव्य की कथा का रूप भी धारण कर सकता है, अनेक भावों–रसों की योजना उसमें सम्भव है। बाण की कादम्बरी गद्यकाव्य का सुन्दर उदाहरण है।

पद्य के समान ही 'गद्यकाव्य' तथा 'गद्यगीत' बाह्य और अन्तर्वृत्ति-निरूपक होते हैं। बाह्य वृत्तिनिरूपक 'गद्यगीत' में रचयिता 'वस्तु' का दर्शक मात्र रहता है और अन्तर्वृत्तिनिरूपक 'गद्यगीत' में 'दृश्य' और 'द्रष्टा' का कोई भेद नहीं रह जाता। 'बाह्य जगत' भी रचयिता के 'अन्तर्जगत' में सायुज्य मुक्ति

लाभ करता है। तभी अन्तर्वृत्तिनिरूपक 'गद्यगीत' में 'सृष्टि' का सुख-दुख भी 'स्रष्टा' का सुख-दुख बनकर निःसृत होता है।

आधुनिक युग का कवि आत्माभिव्यञ्जनावादी अधिक है। अतः उसके गीतों में उर्मी को ढूँढ़ने की चेष्टा में भ्रांति भी हो सकती है, यदि यह न समझा जाय कि वह अपने बाह्य वातावरण को भी अपने में ग्रहण कर व्यक्त कर रहा है।

'वंशीरव' में आत्माभिव्यंजन ही प्रायः पाया जाता है। उसमें नारी की भाव-विशेष की विभिन्न अनुभूतियाँ अश्रु-जल से सिंचित होकर पूत हो उठी हैं। एक ही भाव को भिन्न भिन्न रङ्गों से चित्रित किया गया है, सँवारा गया है। कहीं 'नारी' की किसी 'पुरुष' को अपने जीवन का अङ्ग बनाने की एकाङ्गी आतुरता रसाभास प्रदर्शित कर रही है; कहीं कोई 'पुरुष' नारी के जीवन में प्रविष्ट होना चाहता है और वह उसका निषेध कर रही है। कहीं 'दो' का एकीकरण है और कहीं 'एक' की 'दो' बनने की साध है। पर इन विविधताओं में अनुराग का ही स्पन्दन है—एक ही भाव की आत्मा है।

इसी एक 'गुण' के कारण 'वंशीरव' के गीतों के प्रति यौवन का चिर आकर्षण रहेगा—उन पर वह सदा आत्मविभोर होता रहेगा।

राष्ट्र-गीत

राष्ट्र की भौगोलिक सीमा की सुरक्षा के लिए उसका सामूहिक चिन्तन आवश्यक है। हमारा मानसिक चित्र ही भौतिक गति में प्रेरणा भरता है और हम उसको प्रत्यक्ष चक्षुगत करने का प्रयत्न करते हैं। यह चिंतन जितना ही सघन होगा, उसकी आकृति उतनी ही यथार्थ रूप धारण करेगी। ध्यानयोग-जपयोग के भीतर यही मनोवैज्ञानिक तथ्य निहित है। वैदिक काल में सामूहिक प्रार्थनाओं पर विशेष जोर दिया गया है। प्रसिद्ध गायत्री मन्त्र 'ओ३म् भू...भुर्वः यो नः... प्रचोदयात्' में 'मेरी नहीं', 'हमारी बुद्धि' को प्रेरित करने के लिये सविता से प्रार्थना की गई है। और भी ऐसे कई मन्त्र हैं जिनमें हम सब समान चिन्तन करें, समान सुखी हों आदि भावनायें पाई जाती हैं। राष्ट्र गीत ऐसी ही समष्टिभावना है जिसमें राष्ट्र की भौगोलिक रूप-रेखा, संस्कृति और आकांक्षाओं की प्रतिध्वनि सुन पड़ती है। इन्साइक्लोपीडिया एमेरिकेना (Encyclopadia Americana) में पार्सन्स (Engene parsons) लिखते हैं "National hymn as usually understood is the official song rendered on ceremonial ocasions and the public getherings" राष्ट्र गीत एक अधिकृत गीन है जो सार्वजनिक उत्सवों और सभाओं में गाया जाता है। राष्ट्रीय गीत का जन्म उपर्युक्त लेखक के अनुसार लोक गीतों से हुआ है। इसलिये उसके शब्द और लय में राष्ट्र की प्रवृति या प्रकृति (Temper) का आभास मिलना चाहिये। वह यह भी कहता है...."The National song should voice the aspirations of a people and express to some extent the ideas the nation stands for" राष्ट्र गीत के उपादानों में जहां राष्ट्र की भावनाओं एवं महत्वाकाँक्षाओं का रहना आवश्यक है, वहां उसके प्राकृतिक सौन्दर्य की झाँकी का भी महत्व है : क्योंकि अपने देश की माधुर्यपूर्ण सुषमा पर मुग्ध हुए बिना सच्ची राष्ट्र भक्ति जाग्रत नहीं हो सकती। जिसे अपने राष्ट्र का कण कण प्यारा नहीं लगता, वह उसपर किस प्रेरणा से मरेगा—मिटेगा ? गीत के बाह्य उपकरणों में गीतात्मकता आवश्यक है, पर उसका शब्द—अर्थमय होना आवश्यक नहीं है। संसार के कुछ राष्ट्रों के गीत केवल धुनविशेष (Tune) हैं। इटली का राष्ट्रगीत (Mercia Real Italian); (Royale Italian March) एक धुन मात्र है जो

सार्वजनिक समारोहों पर बजाई जाती है। गणतन्त्र की स्थापना के पूर्व टर्की का राष्ट्रिय गीत भी एक धुन रहा है।

राष्ट्र-गीत का चलन कब से हुआ, यह कहना कठिन है। पूर्व में ऋग्वेद में ऐसे सूक्त मिलते हैं जिन्हें अवसर विशेषों पर सामूहिक रीति से गाया जाता था। उस समय धर्म और राजनीति का परस्पर सम्बन्ध-विच्छेद नहीं हुआ था। धर्म समाज को धारण करता था। इसलिये राजनीति भी उसे धारण करती थी। आजकल के समान एक ही गीत सब प्रसंगों पर व्यवहृत नहीं होता था। युद्धक्षेत्र की ओर जब सेना का अभियान होता था तब गीतों की अपेक्षा वाद्य विशेष बजाए जाते थे। वी० आर० रामचन्द्र दीक्षितार अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'वार इन एन्शियन्ट इंडिया' में ऐसे वाद्योंका वर्णन करते हैं जो प्राचीन भारत में युद्ध-काल में प्रयुक्त होते थे। कुछ ऐसे भी वाद्य थे जो केवल शांति के समय बजाये जाते थे, और कुछ ऐसे थे जो दोनों प्रसंगों पर बजते थे। दुंदुभि इसी प्रकार का वाद्य है। संहिता और ब्राह्मण-ग्रंथों में भूमि में गाड़कर बजाई जाने वाली दुंदुभि का उल्लेख है।

इससे ज्ञात होता है कि दुन्दुभि के कई प्रकार थे। महाभारत-काल के युद्धवाद्यों का ई० डबल्यू० हापकिन्स ने अच्छा अध्ययन किया है। उस समय भेरी, महाभेरी, शंख, (जो विभिन्न प्रकार के थे) गोमुख, मृदंग, दुन्दभि आदि वाद्यों का युद्ध के समय प्रयोग होता था। भेरी के साथ ही दुन्दभि भी बजती थी। हापकिन्स के मतानुसार युद्ध के मैदान में जिन वाद्यों का व्यवहार होता था उनका जब छावनियों में सेना विश्राम लेती थी, वादन नहीं होता था। विश्रान्ति के समय वीणा के कोमल स्वरों से उनका श्रम-परिहार किया जाता था। मृदंग और पणव का प्रयोग शिविरों में अधिक होता था। मृदंग के नन्द और उपनन्दक नामक प्रकार इस प्रकार बजायेजाते थे कि जिससे आल्हादकारी स्वर ध्वनित हो उठता था। युद्ध-विजय के पश्चात् राष्ट्र जब सामूहिक विजयोत्सव मनाता था तब ऋग्वेद के ५९ वें अध्याय के १४ वें सूक्त का सम्राट द्वारा उच्चार किया जाता था, जिसे ग्रिफिथ ने 'Hymn after Victory' (विजयोपरान्त गाया जाने वाला गीत) कहा है, उसका भाव यह है कि यहाँ मैं ठीक स्थान पर रुक गया हूँ। स्वर्ग और भूलोक मुझ पर सदय हैं। दिशायें शत्रुरहित हैं, हम...घृणा नहीं करें, हम सब निर्भय बनें।"

उसके बाद हिन्दूकाल में भी बहुत कुछ पौराणिक परम्पराओं का अवलम्बन जारी रहा। किसी एक ही गीत ने सभी अवसरों पर राष्ट्र की सामूहिक भावनाओं का प्रतिनिधित्व नहीं किया।

पाश्चात्य देशों में भी, निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, राष्ट्र-गीत का आधुनिक अर्थ में कब प्रचलन हुआ ? कहा जाता है, होरेस ने सबसे पहले राष्ट्र-भक्ति का गीत रचा था। प्रसंगवश यहाँ कुछ प्रमुख देशों के राष्ट्र-गीतों की चर्चा की जाती है। ग्रेटब्रिटेन का राष्ट्र-गीत 'God save the King' (परमात्मा सम्राट की रक्षा करें) है, जिसकी रचना १७३६ में हेनरी केरो ने की थी। इस गीत के 'बोल' उसने अन्य कलाकारों से उधार लिए और धुन फ्रैन्च भाषा से, पर उन्हें अपने ढंग पर ढालकर उसमें ब्रिटिश राष्ट्रीयता भर दी। यूनान का राष्ट्रगीत युद्ध-गीत ही है, उसकी रचना १६ वीं शताब्दी में स्वाधीनता के युध्द के समय हुई थी, उसकी पहली पंक्ति है 'यूनान के सपूतो, आओ, उठो।'

इस गीत का आँग्ल कवि बायरन ने अंगरेजी रूपान्तर किया है। आयरलंड में राष्ट्र-गीत समय समय पर परिवर्तित होते रहे हैं। १६ वीं शताब्दी में God save the King की धुन पर God save Ireland गाया जाता था, पर बीसवीं शताब्दी में उसने लोकभाषा का रूप धारण कर नये बोल ग्रहण कर लिये, जिसकी पहली पंक्ति है, 'सिन फिन लिन फिन मर आयरन', फिर सन १६१६ में ईस्टर सप्ताह के क्रांतिप्रवाह के समय से यह गीत प्रचलित हो गया 'Who fears to speak of Easter week ?' (ईस्टर सप्ताह की चर्चा करने में किसे भय लगता है ?) जापान के राष्ट्र गीत की केवल चार पंक्तियां हैं जो हमाशी होरोमोरी द्वारा रचा गया है।

"मिकाडोका साम्राज्य आबाद रहे
हजार, दस हजार वर्ष बीत जायें,
नदी नालों की रेत पत्थर बन जाये
और पत्थर रत्न बन जायें।"

मुसलिम राष्ट्रों में सुलतानों के गीत गाये जाते हैं। ज्ञात नहीं, हमारे पड़ौसी राज्य पाकिस्तान ने किसे राष्ट्र-गीत स्वीकार किया है। हालैण्ड में दो राष्ट्रगीत हैं जो सार्वजनिक अवसरों पर गाये जाते हैं। उनमें Prince and Fatherland (राजा और राष्ट्र) की भक्ति जागृत की गई है। नार्वे का राष्ट्रगीत मधुर है। उसकी रचना Bjornstgerme Bjornsai ने की है जिसका अनुवाद रेमलस एंडरसन ने किया है। उसका पहला भाग है ("Yes we love with faith devotion, Norway's mountains rivers

Rising storm lashed over the ocean with their thousand hands.")

यहां गीतकार अपने देश की पर्वत-शिखाओं, तथा समुद्र तट पर उठने वाले तूफानों आदि सभी को प्यार करता है। वहां जारशाही के जमाने में 'God preserve the Tsar' (परमात्मा जार की रक्षा करे) राष्ट्र-गीत था। लाल क्रांति

के पश्चात् उसका राष्ट्र-गीत Inter national अन्तर्राष्ट्रीय हो गया है। स्वीडन का राष्ट्र-गीत भी नार्वे के गीत के समान अपनी भूमि के प्राकृतिक प्रेम से परिप्लावित है।

कवि अपने देश की पहाड़ियां, सूर्योदय, नीले आकाश सभी को देख देख कर विभोर हो जाता है, वह उसकी पहाड़ियों में युग युग तक रहना चाहता है।

अमेरिका [यूनाईटेड स्टेटस] में कई गीतों को समय समय पर राष्ट्र-गीत का पद प्राप्त होता रहा है। इस समय केथेराइन लीवेटस का America the Beautiful [सुन्दर अमेरिका] अधिक प्रसिद्ध है। यह सार्वजनिक प्रसंगों पर बहुधा गाया जाता है।

भारत के स्वाधीन होते ही हमारे देश में राष्ट्र-गीत का प्रश्न उद्भूत हो गया था। उसके पूर्व बंकिमचंद्र का 'वन्देमातरम्' और रवीन्द्रनाथ ठाकुर का 'जन गण मन अधिनायक जय हे भारत भाग्य विधाता' राष्ट्रगीत के रूप में सार्वजनिक उत्सवों और कार्यों के समय गाये जाते थे और अभी भी गाये जाते हैं। वन्देमातरम् ने तो व्यक्तिगत रूप से भी अनेक देशभक्तों को फांसी की रस्सी को अपने ही हाथों गले में डालने के लिये प्रेरित किया है। मृत्यु के द्वार पर सबसे पहले उनका वन्देमातरम् स्वर ही पहुँचता रहा है। उसमें भारत की माता के रूप में कल्पना की गई है, उसके प्राकृतिक सौंदर्य और वैभव का चित्र खींचा गया है। जन गण मन में भारत को पिता के रूप में देखा गया है। भारत सरकार ने जन-गण मन को राष्ट्रगीत स्वीकार करते समय एक कारण यह बतलाया था कि यह गीत वन्देमातरम् की अपेक्षा बेंड पर अच्छी धुन में गाया जा सकता है। इससे ज्ञात होता है कि देश ऐसे गीत को चाहता है जिसमें जन गण मन और वन्देमातरम् दोनों का समावेश हो। मध्यप्रान्त के गृहमन्त्री 'कृष्णायन' महाकाव्याकार पं० द्वारकाप्रसादजी मिश्र ने इसी कोटि के गीत की रचना की है, जिसकी धुन जन गण मन की, भावना वन्देमातरम् की और पद-माधुरी गीत-गोविन्द की है। इस तरह भावना, संस्कृति और गीतात्मकता तीनों में भारतीयता की रक्षा की गई है। वह गीत यहां दिया जाता है:—

जन गण मन अधिवासिनि जयहे, महिमामणि भारतमाता !
हिम किरीटिनि, विन्ध्य मेखले उदधि धौत पद कमले !
गंगा यमुना रेवा कृष्णा, गोदावरि जल विमले !
विविध नदपि अविभक्ते, शान्ति, शक्ति संयुक्ते !
युग युग अभिनव माता ! जन गण क्लेश विनाशिनि !
जय हे महिमामणि भारत माता ! जय हे ! जय हे ! जय हे !
जय, जय, जय, हे।

इस गीत की एक विशेषता यह है कि यह छोटा है...श्रुति मधुर है और सहज ही कण्ठस्थ हो सकता है। देश की विधान सभा किसी भी गीत को स्वीकार करे, पर मिश्रजी के इस गीत में भी राष्ट्र-गीत के उपकरण हैं। हिन्दी के अन्य कवियों ने भी राष्ट्र-गीत लिखे हैं। 'पंत, ने जन गण मन की धुन पर गीत लिखा हैं, 'प्रसाद' का 'मधुमय मंगल देश हमारा गीत' प्रसिद्ध है। राष्ट्र-गीतों के इतिहास का विहगावलोकन करते समय कहा गया है कि राष्ट्र में एक से अधिक राष्ट्र-गीत प्रचलित रहे हैं और हैं। हमारे देश में भी यदि एक से अधिक राष्ट्र-गीत प्रचलित रहें तो किसी को क्या आपत्ति हो सकती है? विशालकाय महादेश की असंख्य जाति और विभिन्न धर्मावलम्बी जनता को क्या अपना गीत चुन लेने की स्वतंत्रता मिल सकेगी?

समालोचना और हिंदी में उसका विकास

: १८ :

साहित्य के यथार्थ दर्शन का नाम समालोचना है। वह स्वयं "साहित्य" है, जो आलोचक की बुद्धि, संस्कृति और हृदय-वृत्ति से निर्मित होता है। बुद्धि में आलोचक की अध्ययन-सीमा, संस्कृति में उसका विषयग्राही दृष्टिकोण और हृदय-वृत्ति में विषय के साथ समरस होने की ललक झलकती है। साहित्य की वर्तमान सर्वांगीण अवस्था के साथ भूत कालीन संस्कृति-संस्कार की शृंखला जुड़ी रहती है। अत: साहित्य को समझने के लिए समाज, धर्म, राजनीति और साहित्य की तत्कालीन अवस्था तथा रूढ़ियों से परिचित होना आवश्यक है। यद्यपि मानव-भावनाओं-विकारों-में युग का हस्तक्षेप नहीं होता, परन्तु विचारों और परम्पराओं में परिवर्तन का क्रम सदा जारी रहता है। इन परिवर्तनतत्वों के अध्ययन और विश्लेषण के अभाव में यह निर्णय देना कठिन होता है कि आलोच्य साहित्य अनुगामी है अथवा पुरोगामी। अनुगामी से मेरा आशय उस साहित्य से है, जो समय के साथ है और भूत कालीन साहित्य का ऋणी है। 'पुरोगामी' से भावी युग का संकेत करने वाले सजग प्रेरणामय साहित्य का अर्थ समझना चाहिए। इस प्रकार का साहित्य अनुकरण करता नहीं, कराता है।

साहित्य-समालोचना के दो भाग होते हैं, एक 'शास्त्र' और दूसरा 'परीक्षण' 'शास्त्र' में आलोचना के सिद्धान्तों का निर्धारण और परीक्षण में साहित्य का उन सिद्धान्तों के अनुसार या अन्य किसी प्रकार से मूल्यांकन होता है। समय समय पर मूल्यंकन के माप-दंड में परिवर्तन होता रहता है। 'शास्त्र' में साहित्य के विभिन्न अंगों काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि के रचनातंत्र नियमों का वर्णन रहता है। ये नियम प्रतिभाशाली महान साहित्यकारों की कृतियों के सूक्ष्म परिशीलन के पश्चात उनकी अभिव्यंजनाओं आदि की अधिक समानता पर आधारित और निर्धारित होते हैं। 'परीक्षण' में साहित्य की परख होती है, जो साहित्यशास्त्र के नियमों को माप-दंड मानकर की जाती है और इस मापदंड की कुछ या सर्वथा उपेक्षा करके भी की जाती है। शास्त्रीय मापदंड को कितने अंश में ग्रहण किया जाय और कितने अंश में नहीं, इस प्रश्न को

लेकर यूरोप में साहित्यालोचना की अनेक प्रणालियों का जन्म हुआ और होता जा रहा है। हिन्दी साहित्य की आधुनिक परीक्षण-प्रणालियों पर पाश्चात्य प्रणालियों का प्रभाव प्राधान्य होने से यहां उनकी चर्चा अप्रासंगिक न होगी।

यूरोप में अरस्तू (Aristotle), होरेस (Horace), और बाइलू (Boileau) साहित्य-शास्त्र के आचार्य माने जाते हैं। इन्होंने साहित्य की व्याख्या की और महाकाव्य और ट्रेजेडो (दु:खान्त नाटकों) के नियम बनाये। वर्षों तक साहित्य जगत में इनके नियमों ने साहित्य-सृजन और उनकी समीक्षा में पथ-प्रदर्शन का काम किया, पर उनमें गीतिकाव्य और रोमाँचकारी रचनाओं के नियमों का अभाव था। अत: समय की प्रगति में वे शास्त्र साहित्य के कलात्मक पक्ष का निर्देश करने में असमर्थ हो गये। नाटककारों -शेक्सपियर आदि ने शास्त्रियों को धता बताना प्रारम्भ कर दिया। इसके परिणाम स्वरूप कुछ रूढ़िवादी आलोचकों ने शेक्सपियर की शास्त्र-नियम-भंगता की उपेक्षा तो नहीं की, पर उसे यह कहकर क्षमा अवश्य कर दिया कि वह झक्की, अव्यवस्थित पर प्रतिभावान व्यक्ति है। रिनेसां (पुनरुत्थान) के युग ने सोलहवीं शताब्दो में अन्य रूढ़ियों के साथ समालोचना के शास्त्रीय बन्धनों को भी शिथिल कर डाला। उसके स्थान पर व्यक्तिगत रुचि को थोड़ा प्रश्रय दिया गया। परन्तु अठारहवीं शताब्दी में इंग्लैंड में क्लासिकल युग ने पुन: अरस्तू और होरेस को जीवित कर दिया। ड्राइडन, एडीसन, जाँनसन आदि ने प्राचीन शास्त्रीय नियमों की कसौटी पर साहित्य को कसना प्रारम्भ कर दिया। बासवेल ने जब एक बार डा० जाँनसन से एक पद्य पर अपनी राय देते हुए कहा, "मेरी समझ में यह बहुत सुन्दर है।" तब डाक्टर ने झल्ला कर उत्तर दिया, "महाशय, आपके समझने मात्र से यह पद्य सुन्दर नहीं बन जायगा।" उस समय व्यक्तिगत रुचि का साहित्यालोचन में कोई मूल्य ही नहीं माना जाता था। उन्नीसवीं शताब्दी के अस्त होते होते साहित्य में रोमांटिक युग ने आंखें खोलीं, जिसका नेतृत्व जर्मनी में लेसिंग, इंग्लंड में वर्ड्सवर्थ और फ्रांस में सेंट बिउ (Beuve) ने ग्रहण किया। इस युग में 'व्यक्तिगत रुचि' और 'इतिहास' को साहित्य-परीक्षण का आधार माना गया। इंग्लैंड में सर्व-प्रथम कार्लाइल ने राष्ट्र के इतिहास और साहित्य में सम्बन्ध देखने की चेष्टा की। जर्मन दार्शनिक फ़िशेक और हीगल ने इस सिद्धान्त को बड़ा महत्व दिया—"साहित्य से हम इतिहास का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं और इतिहास से साहित्य-प्रवाह की लहरें गिन सकते हैं।" यद्यपि अरस्तू-होरेस के बन्धन से मुक्ति मिल गई, पर व्यक्तिगत रुचियों ने साहित्यालोचन में इतनी विभिन्नता और अव्यवस्था उपस्थित कर दी कि एक आंग्ल आलोचक के शब्दों में उन्नीसवीं शताब्दी की आलोचना में किसी तारतम्य को खोजना कठिन है।

अशास्त्रीय परीक्षण के विभिन्न रूपों में [१] प्रभाववादी (Impressionist criticism) [२] सौन्दर्यवादी (Aesthetical) [३] प्रशंसावादी (Appreciative) और [४] मार्क्सवादी (Marxian) आलोचनाएं यूरप के आधुनिक साहित्य-जगत को अभिभूत करती रही हैं।

'प्रभाववादी आलोचना' में आलोचक अनातोले फ्रांस के शब्दों में "साहित्य के बीच विचरण करने वाली अपनी आत्मा के अनुभवों का वर्णन करता है।"

इस प्रकार की आलोचना 'मंपरक होती है। उसमें आलोचक का व्यक्ति प्रधान होकर बोलने लगता है। 'History of the People of Israel' की आलोचना में आलोचक अनातोले फ्रांस की आत्म-व्यंजना का ही सुन्दर रूप मिलता है।

सौन्दर्यवादी आलोचना प्रभाववादी आलोचना में जहाँ आलोचक अपने को व्यक्त कर आत्म विभोर हो जाता है, वहाँ सौन्दर्यवादी आलोचना में वह साहित्य में केवल सुन्दरम् ही देखता है. यह सौन्दर्य शैली का हो सकता है और कल्पना का भी।

'प्रशंसावादी आलोचना' में शास्त्रीय, प्रभाववादी और सौंदर्यवादी इन तीनों प्रकार की प्रणालियों का समावेश होता है। इस प्रकार की आलोचना में न साहित्य की व्याख्या होती है और न किन्हीं नियमों का माप-तोल! उसमें हर स्रोत से 'आनन्द-रस' को संचित किया जाता है। अपने इस आनन्द को अपनी ही कल्पना के सहारे आलोचक चित्रित करता है।*

इस प्रकार की आलोचना की एकांगिता स्पष्ट है। इन दिनों पाश्चात्य देशों में आलोचना का एक प्रकार और प्रचलित है, जो मार्क्सवादी आलोचना के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें आलोचक आलोच्य कृति में देखता है कि क्या इसमें शोषक और शोषित वर्गों का संघर्ष है? क्या शोषित वर्ग के प्रति लेखक की सहानुभूति है और क्या उसकी शोषक वर्ग पर विजय दिखाई गई है? यदि इनका उत्तर "हाँ" है तो वह साहित्य की श्रेष्ठ कृति है। यदि नहीं, तो उसका

---

*"The criticism is primarily not to explain and not to judge on dogmetiye but to enjoy, to realise the manifold charm the work of art has gathered into itself from all sources, and to interpret this charm imaginatively to the men of his own day generation."

(Studies and Appreciation.)

मूल्य शून्य है। यह आलोचना जीवन और साहित्य को एक मानकर चलती है।

मौल्टन ने आधुनिक आलोचना के चार प्रकार प्रस्तुत किये हैं—

[१] व्याख्यात्मक (Inductive Criticism) [२] निर्णयात्मक (Judicial method) [३] दार्शनिक पद्धति, जिसमें साहित्य की दार्शनिकता पर विचार किया जाता है और [४] स्वच्छन्द आलोचना (Free or subjective critticism)।

मोल्टन ने व्याख्यात्मक आलोचना को शेष तीन प्रकार की आलोचनाओं का आधार माना है। विचेंस्टर ने अपनी 'Some Principles of Literary criticism' में आलोचनाओं के विभिन्न भेदों की मीमांसा न कर आलोचना के लिए तीन बातें आवश्यक बतलाई हैं। आपके मत से आलोचक को (१) साहित्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से अवगत हो जाना चाहिए, क्योंकि कोई साहित्य अपने समय से सर्वथा अप्रभावित नहीं रह सकता। (२) साहित्यकार के व्यक्तिगत जीवन से भिज्ञ हो जाना चाहिए। इससे साहित्य को समझना आसान हो जाता है। पर इसी तत्व की ओर विशेष ध्यान देने से आलोचना का तोल बिगड़ सकता है और (३) कृति की साहित्यिक विशेषताओं की उद्भावना की जानी चाहिए। विंचेस्टर ने अन्तिम तत्व पर ही विशेष जोर दिया है। साहित्यिक विशेषताओं के अन्तर्गत कल्पना, भावना, भाषा आदि का विचार आता है। इस पद्धति को साहित्य की 'वैज्ञानिक परीक्षा' कहा जा सकता है, जिसमें शास्त्रीय नियमों के न रहते हुए भी कृति की परख 'नियम रहित' नहीं है। नीचे वृक्ष द्वारा पाश्चात्य आलोचना की धाराओं का स्पष्टीकरण किया जाता है—

समालोचना
- शास्त्र
- परीक्षण
  - शास्त्रीय
  - अशास्त्रीय
    - प्रभाववादी
    - सौंदर्यवादी
    - प्रशंसावादी
    - विज्ञानवादी
    - मार्क्सवादी
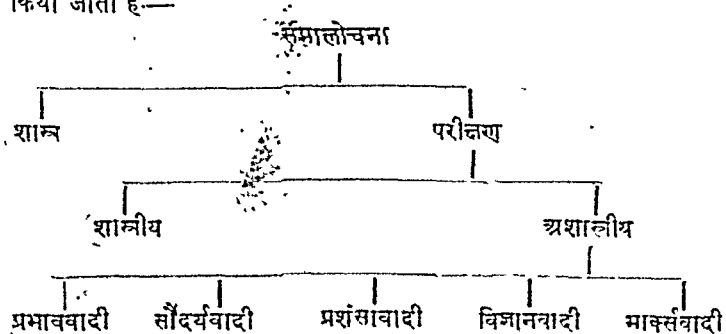
हिन्दी में आलोचना के परीक्षण-अंग के दर्शन होने के पूर्व शास्त्र-ग्रन्थों का निर्माण संस्कृत शास्त्र ग्रन्थों के आधार पर प्रारम्भ हो गया था। संस्कृत

यह सम्प्रदाय बहुत पुराना है। भरत के नाट्य-शास्त्र में इसकी चर्चा है। हमारे यहाँ आचार्यों ने साहित्य की आत्मा 'रस' में देखी थी। 'आनन्द' की परम अनुभूति का नाम ही 'रस' है। उसकी उत्पत्ति के विषय में भारत का कहना है—

"विभावानुभावव्यभिचारी संयोगाद्रसनिष्पत्तिः।" [विभाव, अनुभाव और सँचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है]। रूपक में 'रस' की स्थिति दर्शकों या पाठक में होती है या पात्र या नाटक (काव्य) में, इस प्रश्न को लेकर भरत के बाद में होने वाले आचार्यों में काफी मतभेद रहा। पर अधिक मान्य मत यही है कि जब दर्शक या पाठक का हृदय पात्र या 'काव्य' की भावना के साथ 'समरस' हो जाता है...(जब साधारणीकरण की अवस्था उत्पन्न हो जाती है) तभी 'रस की निष्पत्ति होती है। रस की स्थिति वास्तव में दर्शक या पाठक के मन में ही होती है। नाटक देखने-पढ़ने से उसके मन के सोये हुए 'संस्कार' जाग उठते हैं और वह 'कृति' में अपना भान भूलकर आनन्द-विभोर हो जाता है।

[२] रस-सम्प्रदाय के साथ साथ अलंकार-सम्प्रदाय का भी जन्म हुआ प्रतीत होता है। भामह को इस स्कूल का प्रथम ज्ञात आचार्य कहा जाता है। उनके बाद दंडी, रुद्रयक, और उद्भट, का नाम आता है। इन आचार्यों ने "अलंकारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतः" कह कर काव्य में अलंकारों को ही सब कुछ माना है। उक्त आचार्यों ने शब्द और अर्थालंकारों की बावन संख्या तक व्याख्या की है, पर यह संख्या क्रमशः बढ़ती गई।

(३) रीति-सम्प्रदाय में गुण (माधुर्य, ओज और प्रसाद आदि) और रीति युक्त रचना को श्रेष्ठ माना गया है। आचार्य वामन ने गुणों की महत्ता में कहा है कि गुण-रहित काव्य मनोरंजक नहीं हो सकता। गुण ही काव्य की शोभा है। वामन ने शब्द के दस और अर्थ के भी इतने ही गुण बतलाये हैं।

(४) वक्रोक्ति सम्प्रदाय—कुंतक ने वक्रोक्ति को ही काव्य का भूषण माना है। इसके पूर्व भामह ने इसकी चर्चा की थी। कुंतक ने वक्रोक्ति में ही रस, अलंकार और रीति-सम्प्रदायों को सम्मिलित करने की चेष्टा की। कुछ आचार्य वक्रोक्ति को अलंकार के अन्तर्गत मान कर मौन हो जाते हैं।

(५) ध्वनि-सम्प्रदाय ने वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ से भिन्न अर्थ को, जो व्यंग्यार्थ कहलाता है, महत्व दिया है। इसके प्रकट आचार्य आनन्दवर्धनाचार्य माने जाते हैं। इस सिद्धान्त ने संस्कृत आलोचना-साहित्य में क्रांति मचा दी। ध्वनि में ही काव्य का सर्वस्व सुन पड़ने लगा। परिष्कृत भावक 'ध्वनि' काव्य के ही आदक होते हैं। अभिधापरक काव्य से उनमें रस की निष्पत्ति नहीं होती।

हिन्दी में उक्त सम्प्रदायों में से रस और अलंकार-सम्प्रदायों को ही अपनाया गया। आज यह कहना कठिन है कि हिन्दी में रस और अलंकार शास्त्रों की रचना कब से हुई। केशवदास (सं० १६१२) को (१) हिन्दी-काव्य शास्त्र का आदि आचार्य माना जा सकता है। उनके पश्चात (२) जसवन्तसिंह (भाषा भूषण) (३) भूषण त्रिपाठी (शिवराज भूषण) (४) मतिराम त्रिपाठी (ललित ललाम) (५) देव (भाव विलास) (६) गोविन्द (कर्णाभरण) (७) भिखारीदास (काव्य निर्णय) (८) दूलह (कंठाभरण) (६) रामसिंह (अलकार दर्पण) (१०) गोकुल कवि (चेत चन्द्रिका) (११) पद्माकर (पद्माभरण) (१२) लछिराम (१३) बाबूराम बित्थरिया (नव-रस) (१४) गुलाबराय (नव-रस) (१५) कन्हैयालाल पोद्दार (अलकार प्रकाश और काव्य कल्पद्रुम) (१६) अर्जुनदास केडिया (भारती भूषण) (१७) लाला भगवानदीन (अलकार मंजूषा) (१८) जगन्नाथप्रसाद भानु (छन्द प्रभाकर) (१६) श्यामसुन्दरदास (साहित्य लोचन) और (२०) जगन्नाथदास रत्नाकर (समालोचनादर्श) रामदहिन मिश्र आदि ने इस दिशा में श्रम किया है। शास्त्र की रचना के साथ समालोचना प्रणालियों का हमारे यहाँ पाश्चात्य देशों की भाँति शीघ्र प्रचार नहीं हुआ। सबसे पहले संक्षिप्त सम्मति-प्रदान की आशीर्वादात्मक प्रथा का जन्म हुआ। 'भक्तमाल' में (विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में) "वाल्मीकि तुलसी भयो" जैसी सूत्रमय सम्मति मिल जाती है। साहित्य-कृति की अन्तरात्मा में प्रविष्ट हो उसके विवेचन का समय बहुत बाद में आता है। हरिश्चन्द्र-काल से कृति के गुण-दोष विवेचन की शास्त्रीय आलोचना का श्रीगणेश होता है। पं० बद्रीनारायण चौधरी की 'आनन्द कादम्बिनी' में 'संयोगता स्वयंबर' की विस्तृत आलोचना ने हिन्दी में एक क्रांति का सन्देश दिया। पर जैसा कि आलोचना के प्रारम्भिक दिनों में स्वाभाविक था, आलोचकों का ध्यान दोषों पर ही अधिक जाता था। मिश्र-बन्धु लिखते हैं, "संवत् १६५६ में 'सरस्वती' निकली। संवत् ५७ में इसी पत्रिका के लिए हमने हम्मीर-हठ और पं० श्रीधर पाठक की रचनाओं पर समालोचनाएं लिखीं और हिन्दी काव्य आलोचना में साहित्य प्रणाली के दोषों पर विचार किया। संवत १६५८ में उपर्युक्त लेखों में दोषारोपण करने वाले कुछ आलोचकों के लेखों के उत्तर दिये गये। पं० श्रीधर पाठक सम्बन्धी लेख में दोषों के विशेष वर्णन हुए। हिन्दी काव्य आलोचना के विषय में अखबारों में एक वर्ष तक विवाद चलते रहे।" इस काल तक 'शास्त्रीय आलोचना' से आगे हमारे आलोचक नहीं बढ़े। मिश्र-बन्धुओं ने जब "हिन्दी नवरत्न" में कवियों को बड़ा छोटा सिद्ध करने का प्रयत्न किया तब पं० पद्मसिंह शर्मा ने विद्वतापूर्ण ढंग से, बिहारी की तुलना संस्कृत और उर्दू फारसी के कवियों से कर हिन्दी में तुलनात्मक आलोचना को जन्म दिया। इस प्रणाली में शास्त्रीय

नियमों का सर्वथा बहिष्कार नहीं होता, पर उसमें आलोचक की व्यक्तिगत रुचि का प्राधान्य अवश्य हो जाता है। यूरुप में ऐसी तुलनात्मक आलोचना को महत्व नहीं दिया जाता, जिसमें लेखकों–कवियों को "घटिया बढ़िया" सिद्ध करने की चेष्टा की जाती है।

शर्माजी की इस आलोचना पद्धति का अनुकरण हिन्दी में कुछ समय तक होता रहा, पर चूंकि इसमें बहु भाषा विज्ञता और साहित्य शास्त्र के गम्भीर अध्ययन की अपेक्षा होती है, इसलिए इस दिशा में बहुत कम व्यक्ति आगे आये। हां, स्व० पं० अवध उपाध्याय और जोशी बन्धुओं ने प्रेमचन्द आदि लेखकों की कृतियों की तुलनात्मक समीक्षा अवश्य की है। इस प्रकार श्रीकृष्ण बिहारी मिश्र और स्व० लाला भगवानदीन भी प्राचीन कवियों की तुलनात्मक समीक्षा करने के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। पत्र–पत्रिकाओं की संख्या बढ़ जाने के कारण संक्षिप्त सूचना और लेख रूप में आलोचनाएं अधिक छपने लगीं, जिनमें न तो आलोचकों का व्यक्तित्व ही प्रतिबिम्बित हो पाया और न कृति का यथार्थ दर्शन–विवेचन ही।

छायावाद काल में प्रभाववादी समालोचनाओं का बाहुल्य रहा है। पर साथ ही 'साहित्य' की आत्मा से एकता स्थापित करने की चेष्टा भी कम नहीं हुई। इस युग में शास्त्रीय आलोचना का महत्व बहुत घट गया। नियमों–बन्धनों के प्रति उसी प्रकार विद्रोह दीख पड़ा जिस प्रकार यूरुप में रोमांटिक युग में दिखाई दिया था। साहित्य के समान आलोचना भी निर्बन्ध होने लगी। कई बार साहित्य-कृति की अपेक्षा समालोचना में भाषा सौन्दर्य और कला कल्पना की सुकुमारता अधिक आकर्षक प्रतीत होती थी। छायावाद की अधिकांश रचनाओं को जिस प्रकार समझना कष्टकर होता था उसी प्रकार तत्कालीन कई आलोचनाएं भाषा के आवरण में छिप जाती थीं। इन छायावादी आलोचनाओं में सौन्दर्य तत्व और : आलोचक का : रुचि-तत्व प्रमुख रहा है। द्विवेदी युग में पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अंग्रेजी आलोचना पद्धति के अनुसार हिन्दी में ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि पर कतिपय कवियों की शास्त्रीय आलोचना : ग्रंथरूप में : प्रस्तुत कर मार्गदर्शन का कार्य किया था। छायावाद-युग में पं० शांतिप्रिय द्विवेदी में गंभीर विवेचन की अपेक्षा भावुकता अधिक पाई गई। इनकी आलोचना में गद्यकाव्य के तत्व अधिक हैं; गहन विवेचन कम मिलता है। पं० नंददुलारे वाजपेयी, श्री रामनाथ 'सुमन' और श्री नगेन्द्र ने इस युग की प्रवृत्तियों का सहानुभूति के साथ गंभीर विश्लेषण किया है।

छायावाद-काल की शुद्ध प्रभाववादिनी आलोचनाओं का अस्तित्व अधिक समय तक नहीं टिक सका। सन् १९३५ के लगभग देश में साम्यवादियों की

लहर बही। साहित्य में भी उसका अस्तित्व अनुभव होने लगा पं० सुमित्रानंदन पन्त आदि ने मार्क्सवाद का अध्ययन किया और उसी के सिद्धान्तों की पोषक रचनाओं की सृष्टि की। आलोचना में भी एक प्रणाली उठ खड़ी हुई, जो अपने में मार्क्सवादी दृष्टिकोण भर कर चलने लगी, परन्तु इसमें भारतीय राजनीतिक स्थिति के वैषम्य और उसके दुष्परिणामों के तत्वों का भी समावेश कर दिया गया। इस प्रकार की आलोचना "प्रगतिवादी" आलोचना भी कहलाती है। इसमें शास्त्रीय नियमों की अवहेलना और सौन्दर्य तत्व का बहिष्कार कर "व्यक्तिगत रुचि" का स्वीकार पाया जाता है।

श्री हीरेन मुखर्जी के शब्दों में "प्रगतिशील आलोचना को सामान्यत: दो बुराइयों के कारण क्षति उठानी पड़ती है। एक ओर तो नकली मार्क्सवादी का असंयम, जो अपने उत्साह में यह भूल जाता है कि लिखना एक शिल्प है, जिसकी अपनी लम्बी और अनूठी परम्परा है। और दूसरी ओर ग़रीबों और दीनों के दु:खों के फोटो सदृश चित्रण की प्रशंसा करते न थकने वाले और बाकी सारी चीजों को प्रतिगामी पुकारनेवाले भावना प्रधान व्यक्ति की कोरी भावुकता। यह लड़कपन की बातें हैं, जिनसे साहित्य में प्रगति के इच्छुक सभी लोगों को अपना पीछा छुड़ाना चाहिये।" प्रगतिवादी साहित्य की समालोचना की रूप-रेखा स्थिर करने में श्रीशिवदानसिंह का विशेष स्थान है। इनकी आलोचना में गंभीर अध्ययन की झलक मिलती है। श्री रामविलास शर्मा में "वाद" के पक्षपात के कारण संतुलन की कमी पाई जाती है। प्रकाशचंद्र गुप्त आलोच्य कृति ही को सतह पर ही देखकर संतुष्ट हो जाते हैं। उनमें तर्क पूर्ण सजगता की अपेक्षा भाव प्रवणता अधिक है।

'वाद' से तटस्थ रह कर साहित्य की परख करने वालों में पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी, नंददुलारे बाजपेयी और बाबू गुलाबराय अग्रणी हैं। द्विवेदी जी में आलोच्यकृति की आत्मा को मापने की अद्भुत क्षमता है। उनमें न तो शास्त्र की रुक्षता है और न कवि का बेसभाल भाव तिरेक! रवीन्द्रनाथ की आलोचना-शैली उनकी समीक्षा में अनायास प्रतिबिम्बित हो जाती है। प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य सिद्धान्तों का समन्वय उक्त तीनों समीक्षकों में पाया जाता है।

'हिन्दी समीक्षा-क्षेत्र' में अभी बहुत कार्य शेष है। 'साहित्य सन्देश' नामक एक समीक्षा-पत्र अवश्य निकलता है पर उसमें परीक्षोपयोगी जैसे लेख अधिक निकलते हैं। उनसे केवल परीक्षार्थियों का काम चल सकता है। साहित्य की गंभीर विवेचना करने वाले समीक्षा-पत्र की नितान्त आवश्कता है।

श्री 'निराला' की 'अप्सरा' : १८ :

"अप्सरा" के लेखक श्री० सूर्यकान्त त्रिपाठी "निराला" हिन्दी के क्रांतिकारी कलाकार हैं। वे नवीनता के उपासक और सौन्दर्य-भावना को प्यार करने वाले प्राणी हैं! 'अप्सरा' में उनकी इन दोनों वृत्तियों का 'स्नेह-कटाक्ष' मादकता की अजस्र वर्षा कर रहा है! अप्सरा का प्लाट लम्बा-चौड़ा नहीं! एक वैश्या की 'सत्रह साल की चंपे की कली-सी किशोरी'—कनक— इडन-गार्डन में एक गोरे से छेड़ी जाती है! पीछे से एक युवक उस गोरे को धर दबाता है और उसका उद्धार करता है। युवती का दिल युवक के उपकार से पिघल उठता है और वह उसे चाहने लगती है। कुछ दिन के पश्चात् कोहनूर थिएटर में 'शकुन्तला' का अभिनय होता है, जिसमें वही युवक राज युवक—राज कुमार—'दुष्यन्त' का, और वही युवती—कनक— 'शकुन्तला' का पार्ट करते हैं। दोनों एक दूसरे को देखकर चौंकते और 'पहचान' लेते हैं! अपमानित गोरा पुलिस-सुपरिण्टेंडेण्ट है। अतः वह राजकुमार को गिरफ्तार करने के लिये थिएटर में ही पुलिस-दरोगा को भेजता है। अभिनय समाप्त हो जाने के पश्चात् वह उसे गिरफ्तार कर लेता है।

'कनक' उदास हो अपने घर लौट आती है और उसी की चिन्तना में रहती है। उसकी 'मा' उसे बन्धन-रहित प्रेम की शिक्षा देती है; पर वह 'हाथ की एक चूड़ी, कलाई उठा कर, दिखाती है और कहती है—"मैं ब्याही गई हूँ। अब मैं महफ़िल में गाना नहीं गाऊंगी...यह विवाह हुआ है 'कोहनूर-स्टेज' पर, दुष्यन्त का पार्ट करने वाले राजकुमार के साथ, शकुन्तला बनी हुई तुम्हारी कनक का!" कनक अपनी मां की सलाह से छल-बल द्वारा 'राजकुमार' को छुड़ाती है। 'राजकुमार' अपने अविवाहित रहने और आजन्म साहित्य सेवा करने के प्रण को स्मरण कर 'कनक' की रंगरेलियां से दूर भाग जाता है। उसका यह 'प्रण' उसके मित्र 'चंदन की गिरफ्तारी का संवाद पढ़कर जाग्रत होता है। अतः वह सीधा चंदन के घर जाने को छटपटा उठता है—कनक की 'नहीं, नहीं' और 'आँसुओं की वृष्टि' भी उसे न रोक सकी, वह सीधे 'चन्दन' के घर पहुँच कर उनकी भाभी को उसके

मायके छोड़ने चला जाता है। वहां चन्दन की भाभी' से राजकुमार अपने प्रेम के आख्यान को कह देता है। वह स्त्री सुलभ प्रकृति से उसे 'कनक' को अपनाने की सलाह देती है। इधर कनक 'विजयपुर के कुँवर सा० के राज तिलक में अपनी मां—सर्वेश्वरी—के साथ 'गानोत्सव' में जाती है। वहां कुँवर सा० उसकी रूप माधुरी पीने के लिये "पड़यन्त्र कर रहे थे।' राजकुमार की 'बहूजी' यानै चंदन की 'भाभी' उसी राजकुमार के राज्य के एक कर्मचारी की पुत्री थी। राजकुमार को जब 'कनक' का पता लगा; तो 'बहूजी' के आग्रह से वह भी 'महफिल' में पहुँचता है। कनक अपने को कुँवर सा० से बचाने के लिये 'राजकुमार' को कैद कराने का जाल रचना चाहती है। पर चंदन की सहायता से वह और राजकुमार दोनों 'महफिल' की 'पैशाचिक भूमि' से हटा लिये जाते हैं और 'बहूजी' के चातुर्य से अन्त में राजकुमार और कनक का वैवाहिक दृढ़ सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। यही इसका कथानक है। 'अप्सरा' में प्रत्येक पात्र के चरित्र-चित्रण पर विशेष ध्याम नहीं रखा गया। लेखक का यह कहना सच है कि "अप्सरा" उन्हें "जिस-जिस ओर ले गई," "दीपक पतंग की तरह" वे "उसके साथ रहे।" पर हम यह कहते हैं कि लेखक ने 'अप्सरा' में इतनी मादकता भरी है—इतना सौन्दर्य्य भरा है कि पाठक की प्यास उसे सरसरी तौर पर देखने से नहीं बुझ सकती। उसमें डूबे-उतराये बिना उसे चैन ही नहीं पड़ सकती! चित्र खींचने में तो लेखक ने विशेष कौशल दिखाया है! "कनक धीरे-धीरे सोलहवें वर्ष के पहिले चरण में आ पड़ी। अपार, अलौकिक सौन्दर्य, एकान्त में, कभी कभी अपनी मनोहर रागिनी सुना जाता; वह कान लगा कर उसके अमृत-स्वर को सुनती, पान किया करती। अज्ञात एक अपूर्व आनन्द का प्रवाह अंगों को आपाद मस्तक नहला जाता, स्नेह की विद्युत-लता काँप उठती। उस अपरिचित कारण की तलाश में विस्मय से आकाश की ओर ताक कर रह जाती। कभी कभी लिखे हुए अंगों के स्नेह भार में स्पर्श मिलता, जैसे अशरीर कोई उसकी आत्मा में प्रवेश कर रहा हो। उस गुदगुदी में उसके तमाम अंग काँप कर खिल उठते। अपनी देह के वृंत पर अपलक खिली हुई, ज्योत्स्ना के चंद्रपुष्प की तरह, सौन्दर्योज्ज्वल पारिजात की तरह एक अज्ञात प्रणय की वायु डोल उठती। आँखों में प्रश्न फूट पड़ता, संसार के रहस्यों के प्रति विस्मय!" 'सोलहवें वर्ष के पहले चरण' का यह चित्र कितना सुन्दर है! लेखक ने कनक के शरीर-सौन्दर्य पर ही स्वर्गीय आभा प्रकाशित नहीं की उसके अभ्यन्तर को भी उतना ही सुन्दर, उतना ही आकर्षक और ऊँचा दिखाया है। यही कारण है कि उसके "वैश्या पुत्री" होने पर भी हृदय में उसके प्रति आप-ही-आप आदर और

भक्ति जाग उठती है। "कनक की आँखों के झरोखे से प्रथम यौवन के प्रभात-काल में तमाम स्वप्नों की सफलता के रूप से राजकुमार ने ही झाँका था"—कनक के लिये सिवा उसके संसार में और कोई न था। उसने ऐश्वर्य के सारे प्रलोभनों को 'राजकुमार' के लिये ठुकरा दिया! वह वेश्या के घर में उत्पन्न होने पर भी निर्लज्ज और कमअक्ल नहीं है। वह मर्यादित, सलज्जा और कुशला है। 'राजकुमार' कालेज का एक कलावंत हिन्दी प्रोफेसर है। वह गिरफ्तारी से रिहा होने के बाद से विक्षिप्त होकर कनक के साथ चक्कर लगाता है। उसकी आँखों से युवक के हृदय की आग रह रहकर निकल पड़ती है। "उसने जाति, देश, साहित्य और आत्मा के कल्याण के लिये अपने तमाम सुखों का बलिदान कर देने की प्रतिज्ञा की थी, पर प्रथम ही पदक्षेप में इस तरह आँखों में आँखें बिंध गईं कि पथ का ज्ञान हो जाना रहा है।" वह बार-बार अपनी भूल के लिए पश्चात्ताप करता है, पर उसकी दृष्टि साफ नहीं होती! कनक की कल्पना-मूर्ति उसकी तमाम प्रगतियों को रोककर खड़ी हो जाती है। तमाम परिस्थितियों में उसका मानसिक द्वन्द्व चलता रहता है। वह अपनी प्रतिज्ञा को स्मरण कर मन ही मन कहता है—"साहित्यिक! तुम कहाँ हो? तुम्हे केवल रस-प्रदान करने का अधिकार है, रस ग्रहण करने का नहीं" [लेखक ने इस वाक्य में साहित्यिक के कितने ऊंचे आदर्श को सम्मुख रखा है!] साहित्यिक राजकुमार से, जब वह कनक की वासना— प्याली की एक घूँट पीना ही चाहता है, यह कहलाना कितना सुन्दर है—"आज आंसुओं में अपनी शृंगार की छवि देखने आये हो? कल्पना के प्रसादशिखर पर एक दिन, एक की, देवी के रूप में, तुमने पूजा की, आज दूसरी को प्रेयसी के रूप में हृदय से लगाना चाहते हो? छिः छिः संसार के सहस्त्रों प्राणों के पावन संगीत तुम्हारी कल्पना से निकलने चाहिये!" पर हाय! आदर्श, व्यवहारिक दुनिया के एक कटाक्ष में ही 'पानी' हो जाता है! 'राजकुमार' का 'साहित्य' का तमाम प्रसार आखिर 'कनक' में संकुचित हो ही गया! 'चंदन' अलबेला देशभक्त है! अपने मित्र 'राजकुमार का सच्चा हितैषी! कभी-कभी वह अपने अलबेले स्वभाव के कारण अमर्यादित शब्द भी बोल जाता है। "बहूजी"—तारा—आदर्श हिन्दू रमणी है, पर वह संकुचित विचार की नहीं! "सर्वेश्वरी" धनी वैश्या है। अपनी कन्या—कनक—से सहमा राजकुमार से सम्बन्ध जोड़ देने की बात सुनकर वह चुपचाप उसकी मर्जी के साथ हो जाती है; जो जरा उसकी पूर्व-वर्णित प्रकृति देखते हुए अस्वाभाविक जान पड़ता है।

'अप्सरा' में जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं "चरित्र-चित्रण" पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। लेखक ने केवल 'कनक' की प्रतिमा खींचने का प्रयास किया है उसीके पीछे उनकी लेखनी चली है और उसीके साथ वे अपने पाठकों का मन भी खींचते चले हैं! 'अप्सरा' प्रारंभ से अन्त तक रोचक है— हम "ईडन गार्डन में कृत्रिम सरोवर के तट पर एक कुंज के बीच शाम के सात बजे के करीब जलते हुए एक प्रकाश-स्तंभ के नीचे बैठी किशोरी को सरोवर की लहरों पर चमकती हुई किरणों और जल पर खिले हुए, काँपते बिजली की बत्तियों के कमल के फूल एक चित्त से देखते हुए," उसके पीछे बिना थके उस प्रभात तक सतृष्ण चले जाते हैं जब "चंदन" को लिये हुए मोटर कनक के मकान वाली सड़क से गुजरती है और कनक का यह गाना सुन पड़ता है—"आजु रजनि बड़ भागिनि लेख्यउँ पेख्यउँ पिय मुख-चंदा!" लेखक ने चाहे अपनी 'दंशिताधरा अप्सरा' को साहित्य की हाट में किसी भी उद्देश्य से न रखी हो; पर वह समाज में सुधार का एक नवीन सन्देश दे रही है! हिंदी में यह अपने ढंग का एक ही उपन्यास है। लेखक इसे आकर्षक और रोचक बनाने में सफल हुए हैं।

'पतिता की साधना' में पं० भगवतीप्रसाद वाजपेयी

: १० :

'पतिता की साधना' एक "मौलिक सामाजिक उपन्यास" है। लेखक हैं हिन्दी के यशस्वी कहानीकार और औपन्यासिक पं० भगवतीप्रसाद वाजपेयी। उपन्यास का आकार काफी बड़ा है, तीन सौ पृष्ठों को वह घेरे हुए है। उपन्यास को हम एक लम्बी कहानी कह सकते हैं; ऐसी कहानी जो जीवन के एक ही सूत्र को हिलाकर चुप नहीं हो जाती; उसके रेशे-रेशे को हमारे सामने झलकाने का प्रयत्न करती है; हम बिना प्रयास ही 'वह किस किस्म के तन्तुओं का बना है', जान जाते हैं। कहानी कहना और सुनना मनुष्यजाति की प्राकृतिक भूख है। उसमें कुछ ऐसे हैं जो कहानी कहे बिना रह ही नहीं सकते और कुछ ऐसे जो केवल सुन ही सकते हैं, कह नहीं सकते। 'कहानी कहना' भी एक प्राकृतिक देन है, जीवन के अनुभवों से उसकी शक्ति बढ़ती है। केवल कवि ही 'पैदा' नहीं होता कहानीकार भी पैदा होता है; ठोक-पीट कर उसे बनाया नहीं जा सकता। पं० भगवतीप्रसादजी इसी श्रेणी के कहानीकार हैं, वे कहानी कहेंगे, हजार बार मना करने पर भी कहेंगे। उनका यह स्वभाव है, प्रकृति-धर्म है।

कहानी कहने के भी तरीके हैं। उनका भी 'टेकनिक' है। कई बार प्रसिद्ध कहानीकारों के सामने प्रारम्भ करने की अड़चन आ खड़ी होती है। प्रयत्न करने पर भी वे जो कुछ लिखते हैं, उसे पढ़ने के लिए आँखों में लालच नहीं पैदा होता—"प्रथमग्रासे मक्षिका पातः" इसी को कहते हैं। इसी प्रकार उपसंहार करते समय भी यही समस्या विस्फारित नेत्रों से कहानीकार को देखने लगती है। वाजपेयीजी इन दोनों अड़चनों से मुक्त हैं।

हिन्दी के एक कीर्ति-लब्ध कहानीकार तो ऐसी परिस्थिति में कई बार असफल हो चुके हैं। खींचतान कर अन्त कर देने की धुन में कुछ पात्रों को वे आत्म-हत्या करने की सलाह दे देते थे; चाहे कहानी की घटना-धारा का पानी उन्हें मार डालने के लिए गहरा न भी हो। पाठक उनके पात्रों को इस तरह बुचबुचाते देख कर हँसने लगता है और कहने लगता है,—"तुम भले

ही इनके मुंह में पानी उँड़ेलो; ये तुम्हारे चुप कर देने पर भी बोलेंगे और तुम्हें कोसेंगे।" जब तक घटनाओं का स्वाभाविक विकास नहीं हो लेगा; पात्र का सहसा अन्त नहीं हो सकेगा। पात्र को एक बार कहानी की दुनियाँ में प्रवेश कर और उसमें प्राण भर कर कहानीकार उससे मनमाने ढँग से छुट्टी नहीं ले सकता!

'पतिता की साधना' को कहने का तरीका सीधा-साधा है। कहानीकार एक इतिहासकार का रूप-धारण कर घटनाओं का वर्णन करते जाते हैं; वर्णन के साथ ही आलोचना भी। उपन्यास की वस्तु (Plot) पहिले पहल तो अस्त व्यस्तसी-शिथिल-प्रतीत होती है पर जब हम उसके किनारे पहुँचने लगते हैं तो बिखरे सूत्र एक हो जाते हैं और इस तरह वह कर्मी (Organic) हुई बन जाती है। यद्यपि उसमें ऐसे 'तार' भी हैं, जो पूरे सूत्र में गुँथ नहीं पाए हैं तो भी उनसे प्लाट में शिथिलता नहीं आने पाई है। प्रत्युत उन्होंने 'प्लाट' में प्राण-प्रतिष्ठा करनेवाले पात्रों में चमक लाने में सहायता पहुँचाई है। संक्षेप में वस्तु यह है—नंदा एक ग्रामीण जमींदार की बहू है जिसकी आँखों में उसके पति की छाया ही विवाह के समय पड़ सकी है; वह मूर्ति रूप से उनमें बस नहीं पाई। वह विवाह होने के बाद, एक बार भी अपने पति के घर नहीं गई, पति-मिलन के पूर्व ही उसके सुहाग का सिंदूर पुछ गया। वह विधवा हो गई और अपने भाई-भौजाइयों के साथ रहने लगी उसके छोटे देवर के विवाह के समय वह अपनी श्वसुराल जाती है। वहां मेहमानों में उसके रिश्ते में लगने वाला देवर हरिनाम भी आता है। वह नंदा के सलोने रूप पर मोहित हो जाता है। नन्दा अपनी नँनद चन्द्रमुखी के विवाहोत्सव के उन्माद में स्वयं उन्मादिनी बन जाती है और हरिनाम के भुज-पाश में बँध जाती है। विवाह हो जाने के बाद वह अपने भाइयों के यहां लौट जाती है। वहां सहसा एक दिन हरिनाम पहुँच जाता है और नन्दा केवल उसकी भुजाओं में ही नहीं बँधती, वह अपनी भावज को 'अपनी दूसरी धोती पहने हुए सोने के कमरे के निकट द्वार की चौखट पर उदास बैठी हुई अपने ऊपर धीरे धीरे पंखा झलते' हुए भी दीख पड़ती है। परिणामत: उसे उसके बड़े भाई-भौजाई कानपुर में छोड़ आते हैं। वहाँ उसे 'प्रसव' होता है और फिर वह वेश्याओं के मुहल्ले में 'वेश्या' कहलाते हुए भी अवेश्या रहती है! हरिनाम अपने भाई से झगड़ा होने के कारण एक व्यक्ति द्वारा चलाए गए मान-हानि के मामले में जेल जाता है। वहां से छूटकर अपने 'कर्म' के पश्चात्ताप में आँखों को अंधी बना लेता है और 'सूरदास' के रूप में कानपुर में ही भिखारियों के बीच रहता है। भूलते भटकते हुए वह 'नन्दा' से मिलता है

और फिर अन्त में नन्दा के नन्दोई के जरिये नन्दा का सारा भेद खुल जाता है और फिर सब एक हो जाते हैं।

उपन्यास के पात्रों का चरित्र-चित्रण स्वाभाविक ही नहीं है, सजीव भी है। 'नन्दा' वेश्या कहलाकर भी बारह वर्ष तक अवेश्या कैसे रही, यह प्रश्न उन्हीं को सता सकता है जो व्यक्ति के हृदय में उत्पन्न होने वाली भावना को नहीं समझते। 'नन्दा' मामूली स्त्री के रूप में चित्रित नहीं की गई है और न उसे मनुष्येतर ही बनाया गया है। वह जितनी स्वाभाविकता के साथ पतित हुई है उतनी ही स्वाभाविकता के साथ अपतित भी रही है। उसके हृदय में 'पाप-पुण्य' का द्वन्द्व अहर्निश होता रहा है। उसने केवल 'एक' को अपना सर्वस्व लुटाया; और जिसकी वह पुजारिन थी, उसीको अपने हृदय के आसन पर अन्त तक बिठलाए रही। जिस तरह 'नन्दा' का चरित्र, लेखक ने ऊँचा उठाया है उसी प्रकार 'हरिनाम' भी खूब ऊँचा उठता है। वह 'नन्दा' जैसी नायिका का सर्वथा नायक बनने योग्य है। उसकी साधना भी ईर्ष्या उत्पन्न करने वाली है, वह रूप-ज्योति पर शलभ के समान टूट पड़ने वाला 'कीड़ा' मात्र नहीं है; उसके पास सिद्धान्त भी है। उन्हीं को सत्य बनाने के लिये वह दर दर फिरा। लाखों यातनाएँ सहीं। अन्य पात्र भी अपने निर्धारित कार्य-भार का ठीक तरह से निर्वाह करते हैं। किसी भी पात्र को उठा लीजिए, उस पर जिस सोसायटी का रंग चढ़ा हुआ है, वह उसी का हूबहू चित्र दीख पड़ता है। कृष्ण गोपाल, देहाती जमींदार का ऐसा चित्र है जिसकी आकृति के पहचानने के लिए 'टार्च' फेंकने की जरूरत नहीं है। उनके मैनेजर भी चुनन्दे मुख्त्यार हैं जिनका पेशा ही मालिक के सामने 'ठकुर सुहाती' कहना और गरीब प्रजा पर जुल्म ढाने के लिये मालिक को प्रोत्साहित करना है। नन्दा की बड़ी भौजाई उसके भाई की दूसरी पत्नी है। अतः उसके पति उससे स्वभावतः कुछ 'दबते थे'। स्वभाव का चिड़चिड़ापन उसका हर जगह झलक उठता है। उसके स्वभाव को संतुलित करने के लिए उसकी देवरानी की रचना की गई है, जिसके सौजन्य-प्रेम ने नन्दा के रेतीले जीवन में 'ओयसिस' खड़े कर रखे थे। सहदेव मामा, जिस तरह देहाती बूढ़े हुआ करते हैं, वैसे ही हैं। इसी प्रकार भिखमंगों का चरित्र-चित्रण भी सजीव हुआ है। बारात का वर्णन तो इतना अधिक विस्तृत है, कि उससे बहुतसी बातें सीखी जा सकती हैं। उसे विस्तृत करने का भी कारण है क्योंकि यहीं नायिका के नाजुक जीवन के बीच में फिसलाहट प्रारम्भ होती है। उसके यौवन भरे मनोभावों को उस ओर ले जाने के लिए 'चन्द्रमुखी' के विवाह की उद्दाम भावनाएं सीढ़ी का काम दे रही हैं; वह अनभ्यस्त अल्हड़ छोकरी उन पर चढ़कर सँभली न रह सकी।

पात्रों के चरित्र-चित्रण में कहानीकार ने अपने मनोविज्ञान, और समाज की अवस्था के सूक्ष्म निरीक्षण का अच्छा परिचय दिया है। उनमें हमें यथार्थ कल्पना (Realistic Imagination) का सुन्दर स्वरूप दीख पड़ता है। हिन्दू-समाज में विधवा का क्या स्थान है, इसे कपोलों को आँसुओं से सतत तर रखने वाली 'नन्दा' से पूछो। इस उपन्यास की सफलता उसके हूबहू वर्णन (Graphic description) में है। वर्णन कहीं कहीं इतना वास्तविक हो गया है कि प्रतीत होता है; कहानीकार अपने पाठक की ग्राह्य-शक्ति की परीक्षा ले रहे हैं। एक जगह 'नन्दा' को हरिनाम के भुजपाश में भर कर और उस पर शतशः चुम्बनों की वर्षा कर भी उन्होंने उसकी 'धोती बदलवा' ही डाली! उस 'प्रसंग' का इतना खुला वर्णन आवश्यक न था। इसी एक स्थल को छोड़कर हमें उनके वर्णनों ने अँगुली उठाने का अवसर नहीं दिया। आयरिश कवि आस्कर वाइल्ड के विषय में कहा जाता है कि वह परस्पर विरोधी बात और सुभाषित कहने में इतना पटु था कि उसका अनुकरण आज 'शॉ' जैसे प्रतिष्ठित साहित्यकार भी कर रहे हैं। 'पतिता की साधना' में ऐसे वाक्यों की कमी नहीं है जो सुन्दर सुभाषित के रूप में न कहे जा सकते हों। उदाहरण के लिए हम यहां दो-तीन ऐसे वाक्य उद्धृत करते हैं—

(१) अन्याय को सहन न करके जो जाति मर मिटती है, मैं नहीं मानता कि कभी उसका विनाश संभव है। (२) मैं आज के विद्रोह को इसलिए स्वीकार करता हूँ कि वह कल के सहयोग को जन्म देता है। (३) जो लोग आज एक बात को ज्ञान या अज्ञान में सोच-समझ कर या बिना सोचे हुए ही कर डालते और उसे 'भूल' कह कर अलग जा खड़े होते हैं, वे बिलकुल नहीं सोचते कि, उनके इस अनिश्चित स्वरूप के कारण कितनी निर्मल और निर्दोष भावनाओं की हत्या हो जाया करती है। (४) जनता की उत्तेजना को सदा दबाए रखना उसकी उस स्वाभाविक वीरता और साहस की भावना को नष्ट करना है, जो समाज के संगठन का प्राण है।

उपन्यास में एक-दो स्थल पर लेखक भूले से दीखते हैं। पृष्ठ २७० पर 'चपरासी ने हरी से कहलाया—कहो ईश्वर को हाजिर नाजिर जान कर सच कहेंगे; सच के सिवा झूठ 'बिलकुल न कहेंगे।' यहां 'हरी' जो दफा ५०० भारतीय दण्ड-विधान के अन्तर्गत अभियुक्त है, शपथ लेकर बयान देता है। फौजदारी मामलों में भारतीय कानून में मुलजिम के बयान के लिए 'शपथ' का विधान नहीं है। हां, ब्रिटिश कानून में यह विधान है। इसके अतिरिक्त, मजिस्ट्रेट अभियुक्त के बयान पर ही बिना स्वतंत्र शहादत लिए उसे सज़ा

नहीं दे सकता और मुलजिम का बयान इस्तगासे की शहादत होने पर लिया जाता है।

इस कानूनी 'प्रोसीज़र' की गलती के कारण 'चरित्र-चित्रण' में कोई फीकापन नहीं आने पाया। हम 'पतिता की साधना' की हिन्दी के अच्छे उपन्यासों में गणना करते हैं। प्रतीत होता है, उस पर कहानीकार ने अपना सर्वस्व चढ़ा दिया है। उसका प्रारंभ और अन्त दोनों प्रभावोत्पादक हैं। कई उपन्यासकारों के समान उन्होंने अपने सभी पात्रों को अन्त में स्टेज पर खड़ा कर उन्हें उनका पारिश्रमिक नहीं बाँटा है। कहानी के विकास में जिन पात्रों का अत्यधिक संपर्क रहा है वे ही अन्त में लाकर खड़े किए गए हैं। हम लेखक से इसी कोटि के उपन्यास की आशा करते भी थे।

स्वर्गीय सुभद्राकुमारी की कहानियाँ : ११ :

'बिखरे मोती' से सुभद्राजी कहानी-क्षेत्र में प्रविष्ट होती हैं। इस संग्रह की कहानियां—एकाध को छोड़कर—सब नई हैं। इसके पूर्व वे किसी पत्र पत्रिका में छप कर पुरानी नहीं हो पायी हैं! "समाज और गृहस्थी के भीतर जो घात-प्रतिघात निरंतर होते रहते हैं, उनकी यह प्रतिध्वनियां मात्र हैं!" लेखिका ने "केवल उन प्रतिध्वनियों को अपने भावुक हृदय की तन्त्री के साथ मिलाकर ताल-स्वर में बैठाने का प्रयत्न किया है!" पर जितने मादक भावों का अतिरेक सुभद्राजी की कविताओं में छलकता दिखाई देता है उतना इन कहानियों में नहीं! फिर भी इसमें संदेह नहीं, 'ग्रामीणा', 'थाती' और 'आहुति' आदि में जो 'अश्रुधार' बह रही है, उसमें लेखिका ने अपने प्राणों की दर्द भरी बूंदें चुआ कर उन्हें अमर बना दिया है। अल्हड़ 'सोना' ग्राम के उन्मुक्त वातावरण में लहराने वाली छोकरी—शहर में आकर क्या जाने कि 'फैजू' के कुरते में बटन टाँकना या चिक उठा कर खिड़कियों से झाँकना पाप है और 'इसी प्रकार ज़रा-ज़रा सी बातों में बड़ी-बड़ी बातें भी हो जाया करती हैं।' पड़ोसी-धर्म निभाने से भी उसके पति की इज्ज़त पर आक्रमण होता है, इसे भी वह जल्दी नहीं समझी! विश्व मोहन का चरित्र-चित्रण भी बहुत स्वाभाविक हुआ है। जिस वातावरण में उसका जीवन विकसित हुआ है, उसमें वह 'सोना' की सरलता का अर्थ सिवा उसके कि जो उसने समझा और कुछ समझ ही नहीं सकता था। 'ग्रामीणा' चरित्र-चित्रण और प्लाट की सुन्दर गुंथाई की दृष्टि से संग्रह की सर्वोत्कृष्ट कहानी है। 'थाती' का प्लाट भी 'ग्रामीणा' से मिलता-जुलता है। अन्तर इतना ही है कि 'ग्रामीणा' की नायिका 'ग्राम' से शहर में आती है और 'थाती' की नायिका 'शहर' से 'ग्राम' में!

'थाती' की 'रानी' भी है बड़ी भोली और अनजान! वह यह नहीं समझती कि घूंघट के भीतर से भी मुसका उठने से 'लांछन' लगता है। 'रानी' के 'वे' का चरित्र-चित्रण पाठक की अपेक्षा से सर्वथा विपरीत किया गया है और इतनी सुन्दरता के साथ कि उसमें अस्वाभाविकता का भान नहीं हो

पाता ! कहानी का अन्त आकर्षक है। 'आहुति' के राधेश्याम और 'ग्रामीणा' के विश्वमोहन की ईर्षालु मनोवृत्ति में बहुत कुछ साम्य है। और यह मनोवृत्ति पुरुष जीवन का 'अमर सत्य' भी है। आहुति में लेखिका ने पुरुष के वैवाहिक जीवन के पत्नी-व्यभिचार के वीभत्स चित्र को खींचने का भी साहस किया है ! आप एक जगह लिखती हैं, "कहते हैं, ढलती उमर का विवाह और विशेष कर दूसरे विवाह की सुन्दरी युवती स्त्री, मनुष्य को पागल बना देती है !" 'राधेश्याम' की अनियमितता पर लेखिका महोदया की यह टिप्पणी कितनी चुभती हुई है—"कुन्तला अपने जीवन से बेज़ार-सी हो रही थी। किन्तु वह राधेश्याम को किस प्रकार रोक सकती थी ? क्योंकि वह उनकी विवाहिता पत्नी ठहरी। सात भाँवरें फिर लेने के बाद राधेश्याम को उसके शरीर की पूरी मॉनापली भी मिल चुकी थी न।" आशा है, संयम की लगाम ढीली छोड़ने वाले पाठक, लेखिका की इस 'चुटकी' से शिक्षा ग्रहण करेंगे।

'एकादशी' भी कम प्रभावोत्पादक नहीं है। 'शुद्धि' की महत्ता और आवश्यकता का प्रोपेगेण्डा लेखिका ने 'अमराई' के राजनितिक प्रोपेगेण्डा" के समान असाहित्यिक ढंग से नहीं किया। 'एकादशी' में कला है; 'अमराई' में शुद्ध प्रचार है। कदम्ब के फूलों में 'हास्य-रस' की बड़ी हल्की और गुदगुदी पैदा करने वाली लहर है। 'दृष्टि-कोण' में "अम्माजी" को पुराने ढर्रे की सास अच्छे ढंग से बतलाया गया है। उनके मुख से यह कहलाना बहुत उचित है—"चुप रह, नहीं तो जीभ पकड़ कर खींच लूँगी। बड़ी बिट्टन वाली बनी है। बेचारी बिट्टन ! तू भी सरीखी होगी, तभी तो उसके लिये मरी जाती है न ? जो नहीं होती हैं वे तो ऐसी औरतों की परछांई तक नहीं छूतीं। और तू राधेलाल के लिए क्या कहती है ? वह ? वह तो फूल पर का भँवरा है। आदमी की जात है, उसे सब शोभा देता है, एक नहीं बीस औरतें रख ले। पर औरत आदमी की बराबरी कैसे कर सकती है ?"

'मँझली रानी' में 'मँझली रानी' और 'मास्टर बाबू' का चरित्र बहुत उज्ज्वल बतलाया गया है—ठीक पाठक की प्रथम कल्पना के प्रतिकूल ! मँझली रानी के पृष्ठ ४७ में पंडित रामभजन अपने घर रख कर जात में हुक्का पानी बन्द करवायेंगे' में पता नहीं लेखिका ने बीस बिस्वे कन्वजियों के घर में हुक्का-पानी" की प्रथा कहां से प्रविष्ट करा दी ? युक्तप्रांत में कान्यकुब्ज ब्राम्हण और वे भी प्राचीन विचारों के पोषक ब्राम्हण हुक्का पानी से परहेज करने वाले होते हैं ! भग्नावशेष' में, हमें दुःख है, लेखिका महोदय बहुत कम सफल हुई हैं यद्यपि कहानियों के प्लाटों में नवीनता नहीं है तथापि उनमें यत्र-तत्र जहां

लेखिका ने अपने हृदय की कोमल भावना का रस उँडेला हैं, वहा उनमें एक अकथनीय सजीवता आ गई है। सुभद्राजी की कहानियो की विशेषता यह है कि उन्होने स्त्री पात्रो के हृदय को बहुत ऊँचा और सरल बना दिया है तथा पुरुषो को बहुत अधिक संशयी। 'बिखरे मोती' के बाद भी आपकी कहानियो का विकास हुआ है। उनमें जीवन की यथार्थता का मार्मिक चित्रण पाया जाता है। 'तीन बच्चे' उनकी नवीनतम कहानियो में श्रेष्ठ है।

पं० उदयशंकर भट्ट के भाव-नाट्य : ११ :

हिन्दी के आधुनिक नाटक-साहित्य के उन्नायकों में बहुमुखी प्रतिभा एवं रचना-कौशल की दृष्टि से पं० उदयशंकर भट्ट का स्थान बहुत ऊँचा है। हिन्दी नाटकों के लिखने की प्राचीन शैली को तोड़ते हुए जीवन की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति को अधिक स्पष्ट और सजीव बना कर उच्च स्तर पर लाने वालों में पं० उदयशंकर भट्ट का अपना विशिष्ट स्थान है। अब तक उनकी एक दर्जन से भी अधिक नाटक-पुस्तकें छप चुकी हैं। उन्होंने छोटे-बड़े एकांकियों के अतिरिक्त ऐतिहासिक, पौराणिक, सामाजिक—सभी प्रकार के नाटकों पर अपनी विशिष्ट प्रतिभा की छाप डाली है। इनमें भी भाव-नाट्यों का विशेष महत्व है। हिन्दी के नाटक-साहित्य को भट्ट जी के भाव नाट्य एक अनूठी देन हैं और यह निर्विवाद है कि श्रीजयशंकर प्रसाद के बाद इस दिशा में भट्ट जी को ही स्पृहणीय सफलता मिली है। भट्ट जी अब तक तीन भाव-नाट्य—'विश्वामित्र' 'मत्स्यगंधा' और 'राधा' लिख चुके हैं। उन्हीं का मूल्यांकन करना यहां अभिप्रेत है।

यद्यपि गीति और भाव-नाट्य दोनों में गीति-तत्व उनका प्राण होता है, तो भी भावनाट्य के लिए अथ से इति तक गीत अपेक्षित नहीं हैं। संस्कृत में भाव-नाटकों का अच्छा प्रचलन था। 'कर्पूरमंजरी' 'मालविकाग्निमित्र', 'विक्रमोर्वशीय' आदि इसी कोटि के नाटक हैं। गीतनाट्य में गीतात्मकता के अतिरिक्त एक गुण और चाहिए। वह है नारी पात्रों का बाहुल्य। साथ ही उसमें प्रधान पात्र नारी होती है और उसका रस होता है रसराज शृंगार। रचनातन्त्र की दृष्टि से यही गीति या भावनाट्य कहलाता है। भट्ट जी के उपर्युक्त तीनों नाटकों में नारी पात्रों का प्राधान्य है। उसी को केन्द्र बना कर नाटकों के घटनाचक्र घूमते हैं। तीनों में शृंगार रस की पूर्ण निष्पत्ति होती है। तीनों के कथानक संक्षिप्त, गीति की तरह मधुर, भाव-व्यंजक और पौराणिक हैं।

'विश्वामित्र' में मेनका और विश्वामित्र की शापित प्रेम-लीला का चित्र है, जिसके अंचल में शकुन्तला की मुसकान-भरी सृष्टि है। विश्वामित्र हिमालय की तलहटी में देवदारु वृक्ष के तले हिमासन पर तप कर रहे हैं। वे अपने तप के वैभव से प्रमत्त हो उठते हैं। उन्हें ऐसा भासने लगता है—

"झुक सकते रवि भृकुटि-निपात से,
फट सकता ब्रह्माण्ड एक संकेत पा।"

..और वे अपार ब्रह्म को स्वयं रचने की क्षमता भी अनुभव करने लगते हैं। इस 'अहं' से भर कर वे विश्व को वश में करने के विचार से पुनः समाधिस्थ हो जाते हैं। पर दैव को किसी का एकाधिपत्य कहाँ सह्य है? अहं को रौंदने के लिए मोह की भूमिका प्रस्तुत होती है। उर्वशी और मेनका का भूलोक पर अवतरण होता है। वे तापस को देखकर तनिक आश्चर्य-चकित होती हैं। उर्वशी तो उससे इसलिए घृणा करने लगती है कि वह पुरुष है और तपस्या के बल पर इन्द्र बनना चाहता है। उसमें सब पर शासन करने की धुन है। वह कहती है—

"मैं करती हूँ घृणा मनुज से इसलिए, जग का साधन हमें बना सुख ले रहा।"

'मै करती हूँ घृणा मनुज से इसलिए' में 'मनुज' शब्द पुरुष के लिए प्रयुक्त हुआ है। यद्यपि 'मनुज' से पुरुष-नारी दोनों का भाव लिया जाता है। उर्वशी नर के वर्चस्व को सहन नहीं कर सकी—

"जब नारी-नर दोनों ही से सृष्टि है, एक बड़ा, छोटा हो क्योंकर दूसरा?"

मेनका नारी को अबला नहीं समझती। वह यह स्वीकार करती है कि यद्यपि हम में भुजा और बुद्धि का बल नहीं है, तो भी हमारे पास हृदय-बल है। यद्यपि मेनका की नारी-जाति में बुद्धि-बल-अभाव की घोषणा आधुनिक नारी को अपमानास्पद प्रतीत होगी, फिर भी उसके इस कथन से उसे इनकार नहीं होगा—

"सौन्दर्य और रूप हमारे अस्त्र हैं, जिसके वश त्रैलोक्य नाचता है, सखी,
यदि चाहूँ तो अभी तपस्वी को उठा नाच नचाऊँ जड़ पुतली कर काम की।"

उर्वशी पुरुष को पत्थर से कड़ा समझती है, इसलिए वह विश्वामित्र की समाधि-भंग को अशक्य मानती है। परन्तु मेनका का नर-प्रकृति का अध्ययन यथार्थ सिद्ध होता है। जो पुरुष 'अहं' की कच्ची नींव पर खड़ा है और स्वार्थ के सोपानों पर चढ़ता है, उसका पतन अवश्यंभावी है। मेनका उर्वशी के समान नर-द्रोहिणी नहीं है। वह नर को नारी-रूपी हृदय की प्यास मानती है। वही उसमें प्रेरणा भरता है। नारी के बिना जिस प्रकार पुरुष अपूर्ण रहता है, उसी प्रकार पुरुष के बिना नारी भी अपूर्ण है। नर-नारी दोनों का एकीकरण मनुजता है। नारी की प्रतीक मेनका के सौरभोच्छ्वास से तपोवन में वसन्त छा जाता है, मादकता भर जाती है। तपोधन विश्वामित्र की आँखों में सौन्दर्य-दर्शन की उत्कण्ठा भर जाती है और हृदय

किसी अभाव में विकल होने लगता है। मेनका की रूपराशि उनकी पुतलियों को चंचल बना देती है, उनमें रंगीनी भर देती है। उनका युगों का तप नारी के चरणों पर लोट जाता है। पुरुष का 'अहं' हार जाता है, स्त्री का रूप विजयी होता है। विश्वामित्र के स्वर में पुरुष का प्रबुद्ध महामुनित्व बोल उठता है—

'सब प्रपंच अध्यात्म-एक तुम सत्य हो!
यह सौन्दर्य समग्र सृष्टि का मूल है।'

सौन्दर्य-मधुपान का नाम ही स्वर्गोपभोग है। बहुत काल मुनि इस लोक में स्वर्ग का भोग करते हैं। जब शकुन्तला का जन्म होता है तो उन्हें वास्तविकता का बोध हो जाता है। वे सजग हो उठते हैं, उनके मुख से सहसा निकलता पड़ा है—

"दैव हा! गरल अमृत के धोखे में मैं पी गया।"

और वे अपने ही बनाये स्वर्ग को नरक तुल्य जान कर पुनः ब्रह्म की प्राप्ति के लिए भाग खड़े होते हैं। ऋषि का यह पलायनवाद 'विश्वामित्र' नाटक का पर्यवसान है। ऋषि के देवत्व ने पुरुषत्व धारण किया, देवलोक से भोग भूमि पर वे उतरे और ब्रह्मा की सृष्टि में एक बालिका को अवतरित कर उन्होंने पुनः देवलोक की ओर प्रस्थान किया। निवृत्ति का प्रवृत्ति में परिवर्त्तन और प्रवृत्ति का पुनः निवृत्ति की ओर प्रत्यावर्त्तन ही 'विश्वामित्र' की कथावस्तु है। जीवन में संतुलन प्रवृत्ति और निवृत्ति के सामंजस्य से ही सम्भव है। मानववादी विश्वामित्र की पलायन प्रवृत्ति पर कभी भी 'ऋषित्व' का आरोप सहन नहीं कर सकते। नाट्यतंत्र की दृष्टि से 'विश्वामित्र' स्पृहणीय रचना है। यत्र तत्र भावों की अच्छी अभिव्यंजना हुई है।

'मत्स्यगंधा' में भी वही नारी की प्यास है, नर की आकांक्षा है, विमोह है, मूर्च्छना है। यह महाभारत की सत्यवती मत्स्यकुमारी का प्रेमाख्यान है। मत्स्यगंधा काम के वरदान से अभिशापित होती है। पाराशर ऋषि को नौका से पार उतारते समय 'काम' की विजय होती है। विश्वामित्र के समान पाराशर ऋषि का 'अहं' भी नारी की एक रूप-किरण के स्पर्श से पिघल कर पानी हो जाता है, धर्माधर्म की उलझन सुलझ जाती है। ऋषि उस पार उतरने के पूर्व ही केवटकुमारी से प्रणय की भीख मांग उठते हैं। बेचारी कहती है—'मैं हूं दीन नारी, अज्ञ, मूर्ख, अविचारी प्रभो!'

पर ऋषि उसे समझाते हैं—

'शिव शिव कहो प्रिये, धर्म है
अनन्तरूप, तथा वर्णनीय नहीं साधारण नर को

सृष्टि मूल धर्म है, प्रकृति मूल कर्म सदा,
श्रद्धामूल भक्ति है, समाज फल मूल हैं।
मानता है मानव जिसे ही धर्मवस्तु आज
कल वही होती अविधेय नरलोक में।'

धर्म तो इस प्रकार काल-देश आश्रित है। और समाज ? उसके नियम आदि भी क्या हैं ?

"समाज का विधान मनुज कृत, छिन्न कर देता वही जो इसे बनाता हैं कभी,

मानव की प्रेरणा का फल ही नियम है। ऋषि पार उतरने के पूर्व अपनी वासना की तृप्ति कर लेते हैं और मत्स्यगंधा को यह वरदान दे जाते हैं—

"प्रिय भी सदा न प्रिय लगता है।"

मत्स्यगंधा समय पाकर रानी बन जाती है और शीघ्र ही उसका सधवा-पन विधवापन का रूप धारण कर लेता है। उसे काम का 'आजीवन यौवन वरदान' खल उठता है। आजीवन उसीके ताप में झुलसती रहती है। 'मत्स्यगंधा' में भी 'विश्वामित्र' के समान भावों में क्षिप्र गति है, नाट्य-छटा है।

"मदिर-मदिर यौवन उभार चल, मधुर-मधुर मेरे सिंगार पल।"

गीत में यौवन का मदिर चित्रण है।

यों तीनों भाव-नाट्यों के गीत स्वतंत्र रीति से भी गाये जा सकते हैं। 'प्रसाद' के नाटकों के गीतों के समान इनमें भी भावोद्रेक की छलछल है, भाषा की माधुरी है पर भाषा में 'प्रसाद' के समान च्युति—संस्कृति-दोष कहीं नहीं है!

तीसरा भाव-नाट्य 'राधा' है। पर वह 'विश्वामित्र' और 'मत्स्यगंधा' को पीछे छोड़ कर आगे नहीं बढ़ सका। राधा कृष्ण की छवि-छलक से उनके प्रति अनुराग से भर जाती है और निर्जन-निकुंज में यमुना किनारे अभिसार-सी करने लगती है। एक दिन वह अनमनी हो कहती है—

"मैं रही हूँ दूर जिनसे वह बुलाते पास क्यों ?
हो गया यह हास मेरा सब कहीं उपहास क्यों ?"

उसी समय उसकी सखी विशाखा आती है और औदास्य का कारण पूछती है, जिसके उत्तर में वह छलछला पड़ती है—

'कभी रो कर भी बता दूंगी विशाखा विरह-सा यह,
दीर्घ जीवन महापथ परिचित न हो कर भी किसी से ?'

विशाखा उसे कृष्ण के प्रेम में उन्मत्त जान कर अंधे, प्रमादी, उग्र यौवन की पुकार, अनसुनी कर देने का उपदेश देती है। पर राधा के लिए यह संभव नहीं है। वह विवश है—

"कूप पर जाती कलश ले नीर लेने हेतु जब मैं,
पैर ले जाते मुझे अनजान में यमुना नदी तट।"

नाटक के प्रथम दृश्य मे पूर्वानुराग का चित्र है। दूसरे में राधा का यमुना-निकुंज में अभिसार होता है। वंशीध्वनि से वह वहाँ खिंच जाती है और कृष्ण से वंशी की मोहिनी शक्ति का रहस्य पूछती है। वंशी ब्रज की अज्ञान ललनाओं को खींच ही नहीं लाती, उनमें मदन का सन्देश भी भरती है। कृष्ण वंशी की ध्वनि पर यह आरोप सुनकर क्षुब्ध हो जाते हैं। और कहने लगते हैं—कि सौंदर्य और संगीत का उद्देश्य किसी को उत्तप्त कर वासना-वाही बनाना नहीं है। फिर राधा और कृष्ण में प्रेम और वासना के रूप पर चर्चा होती है। कृष्ण राधा को समझाते हैं कि प्रेम को तन का दास नहीं बनने देना चाहिये। पर राधा उसे प्रकृति-संभव नहीं मानती। अन्त में वह बोल उठती है—

"चाहती, क्या चाहती हूँ, कुछ नहीं, पर चाहती हूँ।
एक तुम हो, एक वंशी मैं सुनूं सुनती रहूं निशि-
दिवस, पल पल पक्ष ऋतु वर्ष, युग कल्पान्त भी!"

कृष्ण वंशी पुनः बजाते हैं, ब्रजवनितायें दौड़ी आती हैं। दृश्य समाप्त हो जाता है। तीसरे दृश्य में राधा स्वयं उसी कुंज में शरद् पूर्णिमा की पर्व-निशा में कृष्ण की प्रतीक्षा करती है। सखी विशाखा भी उसके साथ हैं। कृष्ण आते हैं और उसे समाज कुल मर्यादा तथा प्रेम-रक्षा का उपदेश देते हैं और मथुरा प्रस्थान के पूर्व उससे विदा माँगते हैं। चौथे दृश्य में विवर्ण मलिनवस्त्रा विरहिणी राधा का करुण चित्र है। वह वंशी बजाते और गीत गाते विकल हो उठती है। नारद उसे कृष्ण-प्रेम से विमुख करने का असफल प्रयास करते है। राधा आवेश में आकर कृष्ण को हर जगह देखने लगती है। कृष्ण दुःखाभिभूत हो कर प्रकट होते हैं। उन्हें देखते ही राधा-प्रेम विभोर हो उठती है और शरीर त्याग कर उनकी आत्मा में लीन हो जाती है। इस प्रकार राधा ने वासना को प्रेम में परिणत कर मोहक आदर्श की सृष्टि की है। यद्यपि राधा को कवि ने भूलोक की तरुणी ही रहने दिया है, पर कृष्ण का पुरुष पुरातन रूप वह नहीं बदल पाया है। कृष्ण नर-लीला का अभिनय करते हैं। इस लिए प्रेम और वासना के संघर्ष में प्रकृतपन—स्वाभाविकता—नहीं आ पाई। कृष्ण की अपेक्षा राधा का विरह अधिक खिल सका है। राधा में दार्शनिक दृष्टि

से पुष्टिमार्ग का निरूपण किया गया है। कृष्ण भक्त कवियों की भांति 'भ्रमर-गीत' की भी छाया इसमें पाई जाती है। राधा के समान मधुर पात्र की किसी अन्य विदेशी साहित्य में भी सृष्टि की गई है, इसका मुझे ज्ञान नहीं है। इस नाटिका की भाषा-गति भावानुरूप और पूर्व नाटको के समान ही प्रवाहमयी है। अंत में चलचित्र की छटा दर्शनीय है।

उपर्युक्त तीनों भावनाट्यो में भले ही कथा-सौन्दर्य न हो, भले ही घटना-चातुर्य न हो पर भावो की अन्विति का तनिक भी स्खलन नहीं है और इसे ही कवि भावनाट्यो का मुख्य उपकरण मानता है। 'विश्वामित्र' 'मत्स्यगंधा' और 'राधा' को संस्कारी दर्शको के बीच ड्राइंग रुम में सफलता के साथ अभिनीत किया जा सकता है।

श्री उदयशंकर भट्ट की 'मानसी' :१२:

पं० उदयशंकर भट्ट सफल नाटककार ही नहीं, मधुर कवि भी हैं ! उनके अनेक, कविता-ग्रन्थ, प्रकाशित हो चुके हैं । नित्य पंक्तियों में उनकी ' मानसी ' का परिचय है—

सिंक्लेयर की 'ओशना' कहती है—"हम कुछ भी नहीं जानते, हम नहीं जानते–क्या सही है; हम नहीं जानते–क्या गलत है ? हम एक भूल-भुलैया में है।" जीवन क्या सचमुच भूल-भुलैया है ? हम कभी ' दुःख ' में हँसते और 'सुख' में रोते हैं । फूल चुभते हैं और कांटों पर उन्माद महकता है । 'सुख-दुःख' अरूप हैं, अमाप हैं । समष्टि का सुख व्यक्ति का दुःख और व्यक्ति का 'दुःख' समष्टि का 'सुख' हो सकता है । 'सुख-दुःख' की स्थिति कर्म-परिणाम में नहीं, विचार-स्वीकृति में है । सुख की कल्पना सुख और दुःख की कल्पना दुःख है ।

दुःख की कल्पना क्यों होती है ? अरस्तू मानवी प्रेरणा को दुःख का कारण:मानता है । इसी से ग्रीक साहित्य में दैववाद का अधिक प्रावल्य नहीं दीखता । संसार को यूनानियों ने खुली आंखों से जिस रूप में देखा, उसी रूप में उसका चित्रण किया । आसवाँर्न के शब्दों में उसकी कला में 'सौन्दर्य-सादगी, ताजगी और सत्यान्वेषण की भावना उच्छवछसित हो रही है ।' उसमें बुद्धिवाद की प्रधानता है । उसने यूरोप में मनुष्य को 'पुरुष' बनाया, उसमे आत्मविश्वास पैदा किया है–धर्म और समाज के आडम्बर को ध्वंस कियाहै । ग्रीक साहित्य में प्रकृति के उन विकारों को भी प्रदर्शित किया गया है जिसमें स्त्री, प्रेमिका' और पुरुष, 'प्रेमी' बनाता है । उसमें मनुष्य को तो मनुष्य रखा ही गया है, 'देवता' को भी मनुष्य बना लिया गया हैं । जीवन में आशा का अमृत चुआ कर प्राणों में अमर स्पन्दन भरने का उद्योग किया गया है । ग्रीक साहित्य कापरिणाम ही यूरोप का 'रिनेसांस-युग ' है । आंग्ल-साहित्य में शेक्सपीयर -युग ने दैववाद को प्रधानता दी । मनुष्य भाग्य की लहरों में इतस्तत: उछलने वाला प्राणी भर रह गया, उसका सामर्थ्य भाग्य में लोप हो गया । हेम्लेट के शब्दों में वह (मनुष्य) अनुभव करने लगा —

"दैव ही हमारे भाग्य को बनाता मिटाता है। (There is a devinity that shapes our end) साथ ही मानव स्वभाव के संघर्ष में भी दुःख की स्थिति मानी गई। किन्तु यह संघर्ष व्यक्ति तक ही सीमित रहा। परंतु अब आंग्लसाहित्य में पुनः मानवी शक्तियों के जागरण का युग आ गया है। शा, इब्सन, जान गॉल्स वर्दी आदि साहित्यकारों ने रूढ़िवाद को ठोकर मार कर यह प्रतिपादित करना प्रारंभ किया है कि मनुष्य स्वयं बुरा नहीं है, परिस्थिति उसे बुरा बनाती है। व्यक्ति नहीं, समाज दुःख का कारण है। दूसरे शब्दों में मनुष्य ही अपने 'सुख-दुख' का कारण है, दैव या भाग्य नहीं। पाश्चात्य साहित्य की यह प्रगतिशील लहर हिन्दी साहित्य में भी बह रही है।

" जग यह मानव का प्रपंच है
आप बनाता औ' बिगाड़ता
आप खोदता अपनी कब्रें
निज को मिट्टी डाल गाड़ता।" [मानसी]

यहाँ भी रूढ़िवाद पर बुद्धिवाद विजयी हो रहा है—

"जब नारी, नर दोनों ही से सृष्टि है
एक बड़ा, छोटा हो क्योंकर दूसरा ?" [विश्वामित्र]

यथार्थवाद

प्रत्यक्षानुभूतिः का नाम यथार्थ है। साहित्य में 'रूप' और ' अरूप ' दोनों प्रतिबिम्बित होते हैं। ज्ञानेन्द्रिय-गम्य जगत को हम ' रूप ' और उससे परे काल्पनिक जगत को 'अरूप' की संज्ञा देते हैं। जब 'रूप' वाणी बनता है तब हम उसे यथार्थ साहित्य कहते हैं। साहित्य का जन्म कैसे होता है ? जगत के दृश्य और अदृश्य उपकरण अपनी छाया साहित्यकार की मनो-भूमि पर डालते रहते हैं, जो आवेग की घड़ियों में अभिव्यक्त होकर साहित्य की सृष्टि कर देते हैं। जगत के दृश्य और अदृश्य उपकरणों से हमारा आशय क्रमशः ' वस्तु ' और 'भाव' से है। फूल, वस्तु है। 'समीरण के गन्ध-स्पर्श से फूल कितना हर्षोत्फुल्ल हो उठा है'—भाव है। वस्तु हृदय को छूकर उसमें अपने प्रति राग उत्पन्न कराती हैं। यही राग 'भाव' बनता और 'वाणी' रूप में साहित्य कहलाता है। यथार्थवाद के साहित्य में जगत के 'विचार' और 'विकार' दोनों उतरते हैं। वस्तु की तर्क और बुद्धि से की गई मीमांसा ' विचार ' है तथा उससे [वस्तु से] उत्पन्न राग-वृत्तियाँ 'विकार' कहलाती हैं। "कटीली डाली पर फूल खिले हुए हैं"—यह 'विचार' हुआ। यदि इसी दृश्य को इस तरह व्यक्त किया जाय—

"ये मादक नक्षत्र धरा के पंखुड़ियों पर फूल बिछाये
अपनी काँटों भरी कहानी दो दिन मुझे सुनाने आये"

तो यह 'विकार' या भाव साहित्य कहलाएगा। फूल को देख कर कवि की कल्पना ने राग-वृत्ति का सहारा लिया है। 'विचार' में जहाँ 'विकार' [भाव] का प्राधान्य हो जाता है वहीं कविता का जन्म होता है। इतिहास, विज्ञान, भूगोल, आदि विषय 'विचार साहित्य' तथा कविता, गद्य-गीत, नाटक, आदि 'विकार साहित्य' कहलाते हैं।

'मानसी' क्या है?

'मानसी' में विश्व का यथार्थदर्शन है। प्रकृति के 'रूप'— दृश्यों के दृष्टि-कोण का संकेत है। उसमें मानवी 'सुख-दुख' का उद्गम, उसकी स्थिति और उसके व्याप की अनुभूतिमय विवेचना है। कवि के हृदय-राग ने विचार के साथ मिलकर मानसी को 'विकार साहित्य' के स्थान पर आसीन कर दिया है। विश्व-रूप ने कवि की अंतरात्मा को झंकृत किया है। उसकी झलक मानसी में स्पष्ट है। वह अपने चारों ओर प्रकृति का विलास देखता है—

"पग-पग पर उल्लसित विश्व, रज-रज में स्वर्गों की बस्ती है।"

इसके विपरीत, जब वह मानव जाति को दुःख-ज्वाला से जलते हुए देखता है तो उसका हृदय रो उठता है और कहने लगता है—

"कुसुम अरे, देखो दुःखों को, नर ने उपजाया निज कर से
अपने आप जला भी दी है इसने चिता साध के पर से।"

मनुष्य, मनुष्य का संहार करता है; अमीर, गरीब का रक्त चूस कर स्थूलकाय बन रहा है, उसके शरीर में दीन प्राणियों का रक्त लाली बन कर संचरित हो रहा है और वह गरीब अपने अवशेष रक्त को आँसुओं में बहाकर हत-भाग्य ज़िंदगी बिता रहा है। रूढ़ि कहती है—"पूर्व जन्म के कर्म मनुष्य को भोगने पड़ते हैं।" कवि का विवेक कहता है—यह अध्यात्महीन जीवन है, आडम्बर है। दैववाद पर उसका विश्वास नहीं है—

"यह अध्यात्मवाद मानव के जीवन की है मञ्जु कहानी
जहाँ ईश्वर के बल पर नर करता घर जानी मनमानी।"

और पूर्व कर्म तथा पूर्व जन्म का विश्वास क्या है—

"पूर्व कर्म की पूर्व जन्म की, उलझन में जग को भटकाता।
आलस, भोग और कर्मों की दल-दल फैला उसे गिराता।"

वह देखता है—

"शत्रु अकारण दुःख दे रहा लूट रहा है, मार रहा है
ओ' न्यायी प्रभु देख रहा है पर पद पद पर हार रहा है।"

आजतक न्यायी प्रभु ने क्या किया है?—

"कुछ न कर सका पीड़ित के प्रति, कुछ न किया है अब तक उसने,
कुछ न करेगा आगे भी वह निर्बल को देगा यों चुसने।"

मनुष्य ही अपना 'ब्रह्मा' है, 'विष्णु' है और 'महेश' है।—स्वर्ग और नरक भी काल्पनिक और अनिश्चित हैं। ये 'सूर्य और 'तारे, मानव को क्या लाभ पहुँचाते हैं? क्या रवि ने प्रकाशित होकर उसमें आलोक भरा है? उसके अन्दर किसकी चेतना है? कवि की जिज्ञासा है—

"ये तारे गिन सके न मेरी आहों को, ऋतु बदल न पाया
मैं हूँ कौन, बोलता भीतर जो मेरा जीवन बन आया?"

कवि प्रकृति में उल्लास को चारों ओर बरसते देखकर आत्म-विभोर हो जाता है। फूल हँसते हैं। सरिता आनन्द से उमगती हुई बही जा रही है। कोकिल मस्ती में गाती रहती है। पर, न फूल जानता है कि उसमें हर्ष कहाँ से खिल उठा, न सरिता जानती है—कि वह कहाँ, किस उमङ्ग में चली जा रही है। और कोकिल भी कहती है—

"मैं न जानती जग की रानी क्यों गाती हूँ—क्या गाती हूँ?"

वह तो अपने 'वर्तमान' में ही मस्त है—

"मेरा जीवन वर्तमान है 'वर्तमान' ही तो यह जीवन
अठखेलियाँ सदा करता है सौरभ के पर उड़ता योवन।"

वह न प्राण जानती, न मन समझती, न जीवन पहिचानती और न यही मालूम करना चाहती है कि "तुम और हम किसके हो रहते" हैं। उसने तो जब से आँखें खोली हैं, दुनियाँ को 'मस्तानी' ही देखा है। कवि की कोकिल इतना ज़रूर समझती है कि विश्व का प्राणी बन्धन-हीन है, विश्व का सुख सबके लिये है—"सबके लिये चुगा और पानी है, सबके लिये शाँति है और वसुधा का भरा खज़ाना है।" इसी से वह कुहुक उठती है—

"गाओ, गाने दो औरों को रहा किसी का नहीं जमाना।"

'मानसी' का "कुहू"—गीत हिन्दी संसार की स्पृहणीय रचना है।

मानवी जगत में आशा—निराशाओं का घात—प्रतिघात अविराम चलता रहता है—

"यहाँ टूट जाते हैं प्याले ओठों को छूने से पहिले
यहाँ लीन होती अभिलाषा निज प्रिय को पाने से पहिले।"

मनुष्य अपने वर्तमान जीवन से कभी सन्तुष्ट नहीं होता—

"इस दुनियाँ ने कब जीवन को प्रिय जीवन कह कर अपनाया?"

मानसी में जीवन-समस्याओं की अन्तर-धारा को कवि ने स्पर्श कर उसे आशा, उत्साह और कर्म के पथ पर अग्रसर किया है। सामयिक विचार-लहरी का स्वर उसमें स्पष्ट गूंज रहा है, प्रकृति में फैले हुए यथार्थ को वह मानव जीवन में ढालना चाहता है। अतः कहीं-कहीं वह 'आवेग' न रहकर 'प्रबुद्ध प्रेरक' ज़रूर बन गया है। परन्तु इससे मानसी की राग-व्यथा कम नहीं पड़ गई है। कवि ने मानसी को अलंकारों से जकड़ने का प्रयत्न नहीं किया है। उत्प्रेक्षा और विरोधाभास की संख्या अधिक है पर उनकी कल्पना कष्ट-साध्य बिलकुल नहीं है। एक विरोधाभास का सुन्दर उदाहरण लीजिये—

"अरे यहाँ ठण्डी आहों की ज्वालामुखियाँ भी तो फूटीं।"

जायसी के समान परोक्ष-संकेत भी मिलते हैं। यह कितनी सरस 'समासोक्ति' है:—

"वह अपनी आँखों के मद से सींच रही है जग फुलवारी
उसके कभी मुस्कराते ही हँस उठती है क्यारी क्यारी।"

प्रस्तुत में अप्रस्तुत [अध्यात्म पक्ष] का व्यङ्ग होने से 'समासोक्ति' अलंकार सहज ही आ गया है।

मानसी में जहाँ दैववाद की भर्त्सना है वहाँ परोक्ष शक्ति का सर्वथा विस्मरण भी नहीं है। क्योंकि वह कवि अनुभव करता है—

"चलते जाओ, बढ़ते जाओ
खींच रहा कोई आकर्षण।"

साथ ही वह जगत को जीवन की 'इति' भी नहीं मानता—

"यह पथ अभी विराम कहाँ है
चलते जाओ, चलते जाओ।"

फिर 'मानसी' की अन्तर-धारा क्या है? वह मानव को अपनी शक्ति का विश्वास दिलाना चाहती है और कर्म-क्षेत्र में साहस के साथ प्राकृतिक नियमों के पालन की प्रेरणा करती है। वह मनुष्य-जीवन को आँसुओं में डुबाकर तिनके की तरह बहा देना नहीं चाहती; उसमें सुख, सौन्दर्य और आल्हाद की बस्ती बसा कर भूलोक ही में स्वर्ग उतारना चाहती है। भट्टजी यूनानी पुरातनवादी कवियों के समान यथार्थ भावना का मोहक दीप संजोकर हिन्दी-साहित्य को ज्योतिर्मय

बना रहे हैं। उनके गीति–काव्य (विश्वामित्र) में मानव जीवन अपने प्राकृतिक भाव में प्रतिबिम्बित हुआ है और मानसी में प्रकृति ने स्वयं अपना रूप सँवारा है। उसमें मानव को एक निश्चित और आशामय संदेश मिलता है। समाज को उत्कर्ष के सिंहासन पर आसीन कर उसमें शाश्वत-सुख की सृष्टि करना सत्साहित्य का उद्देश्य है। भट्टजी के कवि रूप को उनके नाटककार ने दबाने की कोशिश की है पर नाटकों की भाषा और उनकी भाव-व्यंजना उनके कवि के उत्कर्ष को आग्रह के साथ आगे रखती हैं।

विद्यापति की 'पदावली' : १४ :

विद्यापति के पदो को मैथिल महिलाओ ने वर्षों से अपने कंठो में सुरक्षित रखा है, उनकी नचारियां और उनके पदोको गाकर आज भी वे विभोर हो उठती हैं। "हमर दुखक नहीं छोर" में मानो 'नारी' ने अपनी अखण्ड वेदना का स्वर सुना है।

बंगाल क वैष्णव भक्त चैतन्य महाप्रभु 'विद्यापति' के पदो में अपने स्वर को विस्मृत कर देते थे। उनकी इसी मिठास ने उन्हें 'मैथिल कोकिल' के नाम से अभिहित किया है। अपने काल में ही विद्यापति के गीत पिसनहारी की झोपड़ी से लेकर राजप्रासाद के झरोखों तक गूंज उठे थे। लखिमारानी के वे कंठहार बन गये थे।

विद्यापति के पदो के कई संग्रह प्रकाश में आ चुके हैं जिनमें श्रीनगेन्द्रनाथ गुप्त का बॅगला संग्रह, श्री बृजनन्दन सहाय, श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी और इंडियन प्रेस के हिन्दी संग्रह उल्लेखनीय हैं। उनके संग्रह दो-तीन हस्तलिखित प्रतियो के आधार पर किये गये हैं। विद्यापति के एक प्रपोत्र ने ताल पत्र पर अपने प्रपितामह के पदो का संग्रह किया था। स्व० हरप्रसाद शास्त्री ने नैपाल से एक संग्रह उपलब्ध किया था। कुछ पद मैथिली के कविलोचन की राग तरंगिणी में भी हैं। बॅगला और नेपाल के संग्रहो में भाषा-दोष के आधिक्य से पद भ्रष्ट हो गये हैं। अतएव डाक्टर उमेश मिश्र के शब्दो में हमें पदो के शुद्ध रूप के लिये आज भी मिथिला की स्त्रियों पर निर्भर रहना पड़ता है। क्योंकि गृहस्थ-जीवन के विविध प्रसंगो पर वे उन्हे गाती रहती हैं।

विद्यापति के पद शृंगारात्मक, भक्ति विषयक और विविध—इन तीन श्रेणियो मे बॉटे जा सकते है। राधा-कृष्ण के शृङ्गार-पदो की संख्या ४८१, शिव-पार्वती की भक्ति से संबंध रखने वाले पदो की ४४, विविध विषयो के पद ३१ और कूट तथा पहेलियो के २० पद हैं।

शृंगारात्मक रचनाओ में कवि ने नायक तथा नायिका के प्रेम के सभी अङ्गो का बहुत बारीकी से वर्णन किया है। कवि को मानव मन का अच्छा ज्ञान था। एक ही भाव को भिन्न भिन्न रूपो में चित्रित करना वह खूब जानता है।

'यह एक विचित्र सी बात है कि मुस्लिम काल में आविर्भूत होने पर भी कवि के पदों में उर्दू तथा फारसी के बहुत थोड़े शब्द पाये जाते हैं। कवितायें पढ़ने से हम कवि के अंतर्द्वन्द का स्थायी भाव जान सकते हैं। वह केवल श्रृंगारिक था। कवि ने राधा-कृष्ण के सच्चे प्रेम को, जिसे 'भक्ति' कहते हैं, कहीं नहीं दिखाया और वह उसका उद्देश्य था भी नहीं। उन दिनों मिथिला में भक्ति की विशेष चर्चा भी नहीं थी जैसी कि चैतन्यदेव के समय बंगाल में थी। विद्यापति किसी विरक्त समाज के नहीं थे जिससे उनके हृदय में भक्ति का स्रोत उमड़ता। अतः हम उन्हें विशुद्ध श्रृंगारिक कवि ही मानते हैं। *

वे बंगाल में ही वैष्णव कवि माने जाते हैं, मिथिला में नहीं। बंगाल के कवि चंडीदास ने विद्यापति की कविताओं को आधार मान कर अपने पदों की रचना की। जैसे विद्यापति कहते हैं—"मलय पवन बहुमंदा" चंडीदास का कथन है—"मलय पवन बहुक मंद।" सच बात तो यह है कि विद्यापति की कोमल कान्त पदावली ने मिथिला ही नहीं, समस्त बंगभूमि को आसक्त कर दिया था। फिर भी चंडीदास के भक्तों का मत है कि "वर्षा का स्वर विरह का स्वर है और वसंत का स्वर मिलन का। चंडीदास के स्वर में विरह की दुस्सह तपस्या की तन्मयता की जो परिपूर्णता है मानों वह गरल के साथ अमृत का योग है, विद्यापति में यह योग नहीं है।"

विद्यापति की राधा में हम शरीर का भाग अधिक और आत्मा का कम पाते हैं। किन्तु विरह में उन्होंने प्रेम के कम मधुर गीत नहीं गाए। कई स्थानों पर अलंकारों से जकड़ी हुई उनकी भाव-प्रतिमा बोलने लगती है, सजीव हो उठती है। वहां काव्य-सौंदर्य विरह के कारण आँखों के पानी से भीगकर नूतन लावण्य धारण कर लेता है। विरह और विरह के अनंतर मिलन के वर्णन में विद्यापति वैष्णव कवि में निश्चय अग्रणी हैं।

'उपमा कालिदासस्य' कहा जाता है। पर इनकी उपमा में भी कम मोहकता नहीं है। उपमा के अतिरिक्त अपह्नुति, व्यतिरेक, रूपक और उत्प्रेक्षा अलंकार-प्रयोग में भी ये पटु हैं। उत्प्रेक्षा का एक उदाहरण है—

> " लोचन तूल कमल नहिं भए सक,
> से जग के नहि जाने,
> से फेरि जाय लुकायल जलमधि
> पंकज निज उपमाने।"

*आपकी कृष्ण भक्ति संबंधिनी रचना में लौकिक शृङ्गार की ध्वनि बहुत देख (?) पड़ती है, यहाँ तक कि अश्लीलता की मात्रा कुछ प्राचुर्य के साथ आ गई है।" शुकदेवबिहारी मिश्र [हिन्दी साहित्य और इतिहास १२४]

रूपकातिशयोक्ति—"कनक कदलि पर सिंह समारल...आदि। 'पदों' में हरि, कृष्ण आदि नामों के आनेसे ही यदि कोई कवि का आलवन परोक्ष सत्ता मान ले तो बात दूसरी है। विद्यापति ने इतने स्पष्ट रूप से राधा-कृष्ण के नख-शिख का वर्णन किया है कि उसके स्थूल आधार में कोई सन्देह नहीं रह जाता। विद्यापति के प्रेम में अलौकिकता देखने वाले यह तर्क करते हैं कि राधा और कृष्ण शब्द प्रतीकात्मक हैं, ठीक उसी तरह जिस तरह कबीर के राम, हरि, विट्ठल आदि*। परन्तु शैव विद्यापति की निर्गुण-उपासना के सम्बन्ध में उनकी कृतियाँ कुछ भी नहीं बोलतीं। कवि-जीवन की जो झलक हमें प्राप्त हुई है उसमें लखिमा रानी का रूप वैभव राधा में पल पल निखर रहा है। उनके कृष्ण के अभिलाप में उनका ही स्वर जैसे मुखरित हो रहा है। यों तो कवि की भावना व्यापक होती है। जब वह पं० केशव प्रसाद मिश्र के अनुसार "मधुमयी भूमिका" में पहुँच जाता है तब उसके आलंबन सबके आलंबन बन जाते हैं। उसकी अभिव्यंजना सब की अभिव्यंजना हो जाती है। (मिश्रजी की 'मधुमयी भूमिका' के संबंध में विद्वानों में काफी मतभेद है। क्योंकि योग की यह सर्वोच्च भूमिका नहीं है। जहाँ साधक सांसारिक दुःख आदि से परे हो केवल आनन्दमय हो जाता है वह "विशोका" भूमिका है)। यही कारण है कि लोग अभिनव दृष्टिकोण के प्रलोभन को न रोक सकने के कारण कवियों में अप्रत्याशित दार्शनिकता को खोजने लगते हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा भी है कि आजकल दार्शनिकता के चश्मे बड़े सस्ते हो गये हैं। हिन्दी समीक्षा-क्षेत्र में प्रत्येक कवि की अभिव्यक्ति में दार्शनिकता की बेसँभाल खोज हो रही है। फिर विद्यापति ही कैसे अछूते रहते? सच बात तो यह है कि जिस माधुर्य भाव के रस में कवि जयदेव के गीत सिक्त हैं वही माधुर्य भाव उनके परवर्ती कवियों में भी झर उठा है। विद्यापति अपने पदों में जयदेव के पदलालित्य के ही ऋणी नहीं है, उनकी भाव-सुकुमारता का रस भी उनमें प्रवाहित है। जयदेव के अतिरिक्त उनपर बंगाल और मिथिला में प्रचलित तांत्रिक एवं वाम-मार्गी विचारों का भी प्रभाव पड़ा है। अतएव उनके काव्य का आलंबन लौकिक ही है जिसे कवि ने व्यापक अनुभूति के द्वारा अलौकिक दर्शा दिया है। डा० विनयकुमार सरकार ने विद्यापति के पदों में आध्यात्मिकता देखने का उचित ही निषेध किया है।

शेली और कीट्स ने जिस परम सौंदर्य की आराधना की है उसी सौंदर्य के प्रति विद्यापति में भी ललक दीख पड़ती है। विद्यापति ने वासना जन्य सौंदर्य और प्रेम को पारमार्थिक सौंदर्य और प्रेम का प्रारंभिक रूपान्तर माना

* डाक्टर ग्रियर्सन और डाक्टर आनन्दकुमार स्वामी आदि।

है और इसी विश्वव्यापी आवेग से चर-अचर सारी सृष्टि को सहानुभूति की शृंखला में बद्ध देखा है।'

" सखी कि कहब किछु नहिं फूर,
सपन कि परतेख कहय न पारिय
किये निकट किये दूर।"

जिस प्रकार कबीर की 'बहुरिया' अपने 'पीव' के प्रथम मिलन से घबराती है उसी तरह विद्यापति की राधा भी अपने कृष्ण से मिलने में झिझकती है। फिर भी विद्यापति की राधा का प्रेम इतना तीव्र है कि उसकी प्यास बुझती ही नहीं।

'सखि कि पूछसि अनुभव मोर
स हो पिरीत अनुराग बखानिय
तिल तिल नूतन होय।'

इसी भाव की अभिव्यक्ति एक संस्कृत कवि की भी है। उसने भी क्षणे क्षणे नवतां आप्नोति ..आदि से प्रेम की व्याख्या की है। मतिराम ने भी यही बात इन शब्दों में व्यक्त की है—

"ज्यों ज्यों निहारिये नेरे व्है नैननि
त्यों त्यों खरी निकरै सुनिकाई।"

वह सौंदर्य ही ऐसा है कि—

" जनम अवधि हम रूप निहारल
नयन न तिरिपित भेल
लाख लाख जुग हिय हिय राखलि
तैयउ हिय जुड़ल न गेल"

विद्यापति ने "प्रेम की पराकाष्ठा आधार और आधेय के अनन्य रूप में व्यक्त की है"—

"अनुखन माधव माधव सुमिरियत
सुन्दरि भेलि मधाई
ओ निज भाव सु भावहि बिसरल
अपने गुण लुब्धाई"

विद्यापति ने राधा के रूप-वर्णन में जिस वय:-सन्धि की अवस्था का मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है वह हिन्दी में अपूर्व है। यद्यपि उनकी राधा में श्लथ शृंगार है-तुलसी की सीता जैसी सात्विकता नहीं है- फिर भी प्रकृति जितने अनुपात के साथ अपने बाह्य और आभ्यान्तर सौन्दर्य के साथ राधा में मुस्करा रही है वह अपने में पूर्ण है।

विद्यापति ने मिलन-शृंगार में अधिक रस अनुभव किया है। उनके विरह शृंगार में अधिक तन्मयता नहीं है। यह एक आश्चर्य में डालनेवाली बात प्रतीत होती है। यद्यापि शृंगार विप्रलभ के योग से ही रस बनता है (यह आचार्यों की सामान्य मान्यता है) तोभी विद्यापति का शृंगार रस बनने के लिये विप्रलभ की अपेक्षा नहीं रखता।

विद्यापति की भाषा स्पष्टत: मैथिल है। परंतु उसमें प्राकृत अपभ्रंश भोजपुरी आदि सभी भाषाओं की छाया दृष्टिगोचर होती है। स्वयं कवि को देशभाषा प्रिय थी। वे कहते हैं "देसिल बयना सब जग मिट्ठा" (देश भाषा सबको मीठी लगती है।) विद्यापति की भाषा बंगला के इतने सन्निकट है कि बहुत समय तक बंगला के साहित्यिक विद्यापति को अपना ही कवि मानते रहे। परंतु जब भाषा-शास्त्र का गहन अध्ययन प्रारंभ हुआ तब विद्यापति की मैथिल भाषा हिन्दी की ही एक विभाषा समझी गई और विद्यापति की गणना हिन्दी के आदि कृष्ण-कवियों में की जाने लगी। गियर्सन आदि पाश्चात्य भाषाविदों ने विद्यापति के काव्य-सौष्ठव और भाषा-माधुर्य की भूरि भूरि प्रशंसा की है।

विद्यापति कृष्ण-काव्य-परम्परा के प्रथम हिन्दी कवि कहे जा सकते हैं। कृष्ण-काव्य-परम्परा का रूप जयदेव ने स्थिर किया है, जिसमें कृष्ण की लीला और उसके उत्स का उल्लासमय वर्णन होता है। जिस प्रकार उल्लास की लहरें उठा करतीं है उसी प्रकार कृष्ण-काव्य की लहरियाँ गीतियों के रूप में निर्मित हुई हैं। जयदेव का अनुकरण पूर्व में चंडीदास और विद्यापति ने किया और पश्चिम में सूर तथा नन्ददास ने। यद्यपि सूर को हिन्दी का प्रथम गीति कवि कुछ लोग कहते हैं और उन्हें पद-शैली का प्रथम प्राचार्य भी, परंतु यह दृष्टि-कोण उस समय तक मान्य था जब तक मैथिल को हिन्दी की विभाषा नहीं माना गया था। मैथिल भाषा हिन्दी की सीमा के अन्तर्गत है। अत: हिन्दी के प्रथम गीति-कवित्व का सेहरा विद्यापति के सिरपर बांधा जाना चाहिये और उन्हें ही कृष्ण-परम्परा का प्रथम हिन्दी कवि उद्घोषित करना चाहिये।

"यशोधरा" और गुप्तजी

हिन्दी के श्रेष्ठ कवि बाबू मैथिली शरण गुप्त के काव्यों में 'साकेत' और 'यशोधरा' अधिक प्रसिद्ध हैं। 'साकेत' उर्मिला के व्यथा-सागर से आप्लावित है। यशोधरा में सिद्धार्थ-पत्नी का वह विरहोच्छ्वास है जिससे झुलस कर कवि कह उठा है।

"अबला जीवन हाय! तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में है दूध और आँखों में पानी॥"

भारतीय नारी-जीवन के त्याग और सहिष्णुत्व की इतनी करुण व्यंजना कहीं नहीं दीख पड़ती। यशोधरा, निस्संदेह भारतीय नारीत्व की प्रतीक है।

उर्मिला और यशोधरा दोनों उपेक्षिता और विरहिणी हैं परंतु उर्मिला का विरह जहाँ उद्दाम, चंचल और बेसंभाल बन कर वासना की सृष्टि करता हुआ दीखता है वहाँ यशोधरा की आँखों में कभी एक क्षण को भी मदिर-भाव अँगड़ाइयाँ नहीं भरने पाये हैं। इसका एक कारण है। यशोधरा में उर्मिला के समान केवल यौवन ही नहीं मुसकुराता मातृत्व भी किलकारियाँ भरता है। अत: वह अपने पुत्र राहुल के 'मुख' में सिद्धार्थ का प्रतिबिंब देख कर मनोविचारों को प्राय: संयत रखने में समर्थ हो सकी है। मातृत्व; सतीत्व का विकास है, वासना की विमल प्रेममें परिणति है। इसके विपरीत, बेचारी उर्मिला की वेदना ही उसकी संगिनी रही है। इसी से वह रह रह अपने मादक दिवसों को विसूर कर जलती और ललचती सी रही है। उर्मिला में रामायण-काल की वधू भावना की अभिव्यक्ति पा कर कुछ समीक्षक निराश हो जाते हैं। संयमी लक्ष्मण की असंयत उर्मिला में विरोधाभास भले ही दिखाई दे पर गुप्त जी की दृष्टिने उसे केवल नारी माना है जिसे यौवन के प्रथम प्रभात में वियोग अनुभव करना पड़ा है। तब वह चंचल और विकल कैसे न रहती?

यशोधरा में यद्यपि आँखों का पानी प्रारंभ से अंत तक छलकता रहता है, फिर भी वह करुण रसका काव्य नहीं है। सिद्धार्थ के महाभिनिष्क्रमण के पश्चात, यशोधरा की वेदना विप्रलंभ श्रृंगार जन्य है। यदि सिद्धार्थ वन से न लौट सकते और उनका यशोधरा से पुनर्मिलन संभव न हो पाता तो यही विप्रलंभ श्रृंगार करुण रस बन जाता। क्या यशोधरा प्रबंध काव्य है?

प्रबंध काव्य में पूर्ण जीवन की व्यापकता और एक सूत्रता रहती है। अतएव उसकी वस्तुधारा अखंडित प्रवाहित होती है। प्राचीन काव्य-परिपाटी के अनुसार उसका नायक धीरोदात्त राजा या उच्चकुल सम्भूत अथवा दैविक शक्ति सम्पन्न व्यक्ति होता है। कम से कम बारह सर्गों में उसकी रचना समाप्त होती है और छंद-सर्गान्त में ही बदलता है। यशोधरा में प्रबंध काव्य के केवल एक उपकरण का पालन हुआ है। और वह यह कि उसकी नायिका (यह नायिका प्रधान काव्य है) और नायक राजकुलसंभूत हैं। यदि काव्य का प्रधान पात्र काव्य-परंपरा के प्रतिकूल भी होता परंतु काव्य में जीवन व्यापक रूप से अविच्छिन्न वस्तु धारा में बहता, तो उसे प्रबंध काव्य कहने में हमें कोई आपत्ति न होती। छंदों के पलपल परिवर्तन में हम यशोधरा की व्याकुल मनोवस्था का चित्रण देख सकते हैं। पर उसमें कथा-सूत्रता नहीं है। अतः उसके वर्तमान रूप में हम यह कह सकते हैं कि यशोधरा प्रबंध रहित होते हुए भी काव्यरहित नहीं है। इसमें आप गेय मुक्तक और नाटकीय छटा पाकर मुग्ध हो उठेंगे। नाटकीयपन की मात्रा इसमें आवश्यकता से अधिक है, इसके लिये कवि ने गद्य सहित एक छोटा सा अंक जोड़ दिया है। संस्कृत में ऐसे गद्य पद्य मिश्रित काव्य को "चम्पू" से अभिहित किया जाता है।

कई स्थलों पर कवि ने हृदयस्पर्शिणी भाव-व्यंजना की है। सिद्धार्थ के चले जाने पर यशोधरा अपने दुख को आँसुओं में पीकर कितने उल्लास से कहती है—

"जायें, सिद्धि वे पावें सुख से
दुखी न हों, इस जन के दुख से।
उपालम्भ मैं दूँ किस मुख से?
आज अधिक वे भाते!"

जो अधिक "भाता" है उसका अन्याय-अत्याचार भी भाने लगता है। और तब उपालम्भ के लिये गुंजाइश ही कहाँ रह जाती है? 'सिद्धि हेतु स्वामी गये यह गौरव की बात" है परंतु वे "चोरी चोरी गए," यही यशोधरा के लिये 'बड़ा व्याघात' हो गया। उसके हृदय में यही एक हविस रह रह हूक उठती है:—

"मिला न हा! इतना भी योग
मैं हँस लेती तुझे वियोग!

क्योंकि—

"स्वयं सुसज्जित करके रण में
प्रियतम को प्राणों के पण में

हमी भेज देती हैं रण में
क्षात्र-धर्म के नाते।"

यशोधरा फिर सँभलती है, वह अपने पति पर 'चोरी चोरी' जाने का दोष भी नहीं मँढ़ना चाहती; वह कहती है—

'जाओ, नाथ अमृत लाओ तुम,
मुझ में मेरा पानी।
चेरी ही मैं बहुत तुम्हारी,
मुक्ति तुम्हारी रानी।
प्रिय ! तुम तपो सहूँ मैं भरसक देखूँ बस हे दानी!
कहाँ तुम्हारी गुण-गाथा में मेरी करुण कहानी ?"

'तुम तपो और तुम्हारी तपन को तुम नहीं, मुझे सहने दो', इसमें भारतीय नारी के हृदय की कितनी अनुरक्तिमयी अभिव्यक्ति है। यशोधरा के कवि ने केशव के समान अलकारों का पांडित्य प्रदर्शन करने के लिये ही काव्य की सृष्टि नहीं की। यही कारण है कि जहां 'केशव' के अलकार रसव्यंजना में बाधक बने हैं वहां मैथिली शरण के अलकार उसमें साधक हुए हैं। राहुल के फूल-से मुखड़े में धवल दँतुलियाँ" कैसी लगती हैं—

"पानी भर आया फूलों के मुँह में आज सवेरे'
हाँ, गोपा का दूध जमा है राहुल मुख में तेरे"

दूध के जम जाने से ही नन्हें दाँतो के बनने की कितनी मौलिक कल्पना है! इसी तरह—

"जल में शतदल तुल्य सरसते
तुम घर रहते हम न तरसते,।
देखो, दो दो, मेघ बरसते,
मैं प्यासी की प्यासी।"

दो आँखों रूपी मेघों के दिनरात बरसते रहने पर भी यशोधरा के प्राणों की प्यास नहीं बुझती। यह वह प्यास है जो दो क्या कई मेघो की अजस्र वर्षा से भी शांत नहीं हो सकती। उक्त पंक्तियों में 'उपमा' 'रूपक', और 'विशेषोक्ति अलंकार कितनी स्वाभाविकता से रस-सिन्चन कर रहे हैं। विशेषोक्ति का दूसरा उदाहरण लीजिये—

"उनके तप के अग्निकुण्ड से घर घर में हैं जागे
मेरे कम्प ! हाय ! फिर भी तुम नहीं कहीं से भागे ?'

इसमें यशोधरा की अनुराग शिथिलावस्था का कितना मार्मिक संकेत है। विरोधाभास का प्रयोग भी कहीं कहीं अच्छा बन पड़ा है—

"संयोग मात्र भावी वियोग"
"मरने को जग जीता है।"

एक स्थल पर कवि की कर कल्पना का चमत्कार वहाँ दिखलाई देता है जहाँ शुद्धोधन सिद्धार्थ के गमन पर विह्वल होकर कह रहे हैं—

"खींचा मैंने गुण—सा तान
निकल गया वह बाण समान।"

धनुष की प्रत्यंचा को जब तानते हैं तब वह छाती में लगती है। इसी तरह अपने पुत्र को प्रत्यंचा के समान छाती से लगाया परंतु प्रत्यंचा को छाती से लगाने के बाद जिस तरह बाण छूट जाता है उसी तरह वह भी छाती से लगकर छूट गया। कहीं कहीं पंक्तियाँ सुंदर उक्ति बन गई हैं—

"शोभित ही रहता है शोभन, रख ले कोई वेश।"
"पाना दुर्लभ नहीं कठिन है, रख पाने का ही प्रसंग।"

यशोधरा में संवादों की प्रधानता है। यशोधरा और राहुल (मा बेटे) के कथोपकथन में कई स्थलों पर ऐसा प्रतीत होने लगता है मानो संवाद यशोधरा और कवि में हो रहा है। राहुल तो बेचारा मेस्मेरिजम का माध्यम मात्र है। वह सिद्धार्थ के घर छोड़ने से लेकर उनके घर लौटने के समय तक 'बच्चा-सा' ही बना रहता है। फिर भी वह कितनी सहृदयता से अपनी मां की अवस्था का चित्रण करता है।

"जल के जीव हैं मा, पीन,
नयन तेरे मीन से हैं, सजल भी क्यों दीन?
पद्मिनी—सी मधुर मृदुल किन्तु क्यों हैं छीन
मन भरा है किन्तु तन क्यों हो रहा रस—हीन?
अम्ब! तेरा स्तन्य पीकर हो गया मैं पीन;
दुग्ध तन मुझ में, पिता में मुग्ध मन है लीन!"

ऊपर की पंक्तियों में काव्यत्व खूब है पर क्या उनका राहुल के मुँह से निकलना स्वाभाविक और साथ ही उचित भी है?

एक स्थल पर जब राहुल पूछता है—
"अम्बा! फिर तू क्यों यहां रह रह रोती है!"
तो उसकी मा-यशोधरा-उत्तर देती है—
"बेटा रे, प्रसव की सी पीड़ा मुझे होती है।"

वेदना की गहराई को 'प्रसव की पीड़ा' कहना उचित है परंतु यहाँ मा बेटे को 'प्रसव पीड़ा' का अनुभव (?) कराकर अपनी वेदना का उपहास हो

करा रही है ! चातक की पुकार सुनकर राहुल जब यशोधरा से पूछता है "अम्ब यह पंछी कौन बोलता है? मीठा बड़ा, जिसके प्रवाह में तू डूबती है बहती ! मां, क्या कहता है यह ?" तब यशोधरा बहुत चतुराई भरा उत्तर देकर बच्चे को समझा देती है।

"पी पी; किन्तु दूध की तुझे क्या सुध रहती?"

यशोधरा कहती है कि चातक 'पी पी' बोलकर तुझे पीने को कह रहा है पर तुझे तो दूध पीने की चिन्ता ही नहीं रहती। और भी कुछ स्थलों पर मां बेटे' के संवादों में स्वाभाविकता दृष्टिगोचर होती है। सब मिलाकर यशोधरा के कथोपकथन मार्मिक हैं।

यद्यपि काव्य में पात्रो का चरित्रचित्रण अनिवार्य अंग नहीं है तो भी यशोधरा में उनका चित्रण अच्छा हुआ है। गोपा (यशोधरा का दूसरा नाम) का चरित्र जिसकी चर्चा हम प्रारंभ से ही कर रहे हैं, बहुत उच्च है। उसमें नारी का सौंदर्य-शील उचित दर्प के साथ चमक कर बड़ा आकर्षक बन गया है। यद्यपि वह पति को पहचान कर अपने आपको भूल गई है, फिर भी उसके आने पर वह उससे मिलने नहीं जाती क्योंकि वह अपने को 'तुच्छ' नहीं समझती। महाप्रजावती (सिद्धार्थ की विमाता)जो बहुत भोली और सर्वथा धर्मभीरु है, जब उसे यह कहकर समझाती है कि 'हम अबला जनों के लिये इतना तेज, इतनादर्प,' उचित नहीं है, तो वह साभिमान उत्तर देती है—

"हाय अम्ब ! आप छोड़कर वे गये
उनका मन होगा तब आप आयें अथवा
मुझको बुला के, चरणों में स्थान देंगे।"

क्योंकि उसे अपने पति की सहृदयता पर विश्वास था—
"अपना कर सम्पूर्ण सृष्टि को मुझे न अपनाओगे ?"

गोपा के मान के आगे सिद्धार्थ को, जो बुद्ध भगवान हो गये थे, झुकना पड़ा—

"मानिनि ! मान तजो, लो, रही तुम्हारी बान
दानिनि ! आया स्वयं द्वार पर यह वह तब भवान।"

गोपा अपने पुत्र के मुख में अपने पति के रूप को देखकर विरह की दारुण व्यथा हँसते-खेलते सह लेती है। जब 'बुद्ध' लौटते हैं और 'भिक्षां देहि' कहते हैं, तो अपने प्राणों से प्रिय पुत्र को वह अर्पण कर आत्मविभोर हो उठती है। इतना त्याग मय जीवन है उसका ! तभी तो उसके श्वसुर शुद्धोधन कहते हैं—

"गोपा बिना गौतम भी ग्राह्य नहीं मुझ को।"

यशोधरा के शेष पात्रों के चरित्रांकन की ओर हमें विशेष दृष्टिपात की

आवश्यकता नहीं होती। क्योंकि यशोधरा प्रबंध या महाकाव्य नहीं है जिसमें कवि को पात्रों के चरित्र-चित्रण की ओर भी थोड़ा लक्ष्य रखना पड़ता है। इसमें यशोधरा ही सब कुछ है; उसकी अन्तर्व्यथा को प्रकट कर ही कवि कृतकृत्य हुए हैं। हम ने उनकी यशोधरा को प्रारंभ से ही आँसुओं में भीगते देखा है और अन्त में भी अपने 'प्रिय' को पाकर उसकी बरुनियों में आँसू उलझे नहीं रह पाये पर इस बार वे पानी बनकर नहीं, 'मोती' बनकर नीचे प्रिय-चरणों में गिरे, जिन्हें पाकर 'बुद्ध' के हृदय में वैभव भर गया—उनका तप सार्थक हो गया।

'सुभद्रा कुमारी'-कवियित्री के रूप में : १६ :

सुभद्रा जी हिन्दी की प्रथम महिला कवि हैं जिनकी काव्य-साधना राष्ट्रीयता को लेकर पुरस्सर हुई है। देश के स्वाधीनता-संग्राम के तूफानी दिनों में सुभद्रा जी के काव्य में भारत की आत्मा बोलती थी; उनकी वाणी तीखी होते हुए भी उसका स्वर मधुर था। स्वर मधुर से मेरा तात्पर्य काव्य की कोमल व्यञ्जना से है। उन्हें अपने समकालीन कवियों में शीघ्र ख्याति मिलने का यही कारण था। एक बात और है जो उनके काव्य की प्रसिद्धि में सहायक हुई। वह है उनकी सीधी सरल भाषा और उनका अभिधामूलक कथन। घुमाफिरा कर कहना वे नहीं जानतीं। आनन्दवर्धन भले ही उस कथन के मध्यम कोटि का काव्य कहें पर भारत की साधारण हिन्दी जनता के मन में उनके द्वारा आनंद-वर्धन अवश्य हुआ है।

सन १९२१-२२ के काल में उनकी कीर्ति ने अपना प्रभात और मध्याह्न दोनों देखा। उसके बाद वे ग्रहस्थी में व्यस्त होने के कारण लगातार काव्य रचना नहीं कर सकीं। यह नहीं कि उसकी कभी हिलोर न उठी हो पर उसमें आवृत्तियाँ न होने से हमें वे अधिक स्थायी कृतियाँ न दे सकीं। कभी-कभी बालकों की रुचि को तुष्ट करने के लिए उन्होंने "सभा के खेल" जैसी 'बाल-रचनायें' भी कीं। हाँ तो सुभद्राजी काव्य-शास्त्रियों की दृष्टि में बहुत ऊँचे दर्जे की कवियित्री नहीं है। पर उनका स्त्रीत्व-उनका क्षत्राणीत्व उनकी रचनाओं में इतना अधिक प्रतिबिम्बित हुआ है कि वह उन्हें चिरकाल तक विस्मृत नहीं होने देगा। यहां उनके प्रथम और प्रसिद्ध काव्य-संग्रह 'मुकुल' का परिचय दिया जाता है।

यह उनकी ११२ बिखरी हुई कविताओं का सुन्दर संग्रह है! हिन्दी-जगत् में इन कविताओं का एक गौरव-पूर्ण स्थान है! इनमें हृदय की अनुभूति-स्रोतस्विनी बड़ी मादकता-मय वेदना को लेकर भावों के चढ़ाव-उतार के साथ बही है! कवियित्री के दिल ने जिस दर्द या खुशी को छुआ, उसे उन्होंने कागज़ पर बड़े सीधे-सादे ढंग से रख दिया! भाषा के शृंगार के लिये उनकी 'अनुभूति-सखी' नहीं ठहरी! 'चलते समय' -जब प्रेम- देवता ने उनसे विदाई की याचना की तो उन्होंने कितनी सरलता से कहा ;—

" तुम मुझे पूछते हो, 'जाऊँ ?' मैं क्या जवाब दूं तुम्हीं कहो !
'जा...' कहते रुकती है ज़बान
किस मुँह से तुमसे कहूं, 'रहो ?'
अपनी प्रेममयी कठोरता (?) का स्मरण भी उन्हें चुभ गया—
" मैं सदा रूठती ही आई ! प्रिय ! तुम्हें न मैंने पहचाना
वह मान बाण-सा चुभता है, अब देख तुम्हारा यह जाना !"
कवियित्री के काव्य की विशेषता उसके भावों की स्पष्ट अनुभूति है !
" मुझे बता दो मानिनिराधे ! प्रीति-रीति वह न्यारी !
क्यों कर थी उस मन-मोहन पर, अविचल भक्ति तुम्हारी ?"

प्रायः यह देखा जाता है कि कवि जिन भावों को हृदय में अनुभव करता है, उन्हें वह ज्यों का त्यों प्रकट करने में बहुत कम सफल होता है ! यह हम निस्संकोच कह सकते हैं, सुभद्राजी अपने भावों को बहुत सफलता के साथ व्यक्त करती हैं ! ऐसा प्रतीत होता है, मानों भाव ही शब्दों का रूप ग्रहण कर हमसे बातें कर रहे हैं और हमारे हृदय में अपनी प्रति-छाया अंकित कर रहे हैं ! हम आपकी कविताओं को प्रमुखतया दो भागों में विभाजित कर सकते हैं— पहिली श्रेणी में उनकी वे कविताएँ आती हैं, जो सर्वथा 'प्रेम'-रस में भीगी हुई हैं और दूसरी श्रेणी उनकी है, जिनसे राष्ट्रीय रंग झर रहा है ! हिन्दी में ऐसे बहुत कम कवि हैं, जिनकी राष्ट्रीय कविताएं वास्तव में 'कविताएं' कहलाने का दावा रख सकती हैं— केवल प्रोपेगेण्डा (प्रचार) की दृष्टि से जो रचना लिखी जाती है, वह गद्यमय पद्य ही है । आपने प्रचार के लिये भी जब कभी कुछ लिखा, वह भी जनता की ज़बान पर आये बिना नहीं रहा ! आपकी 'झांसी की रानी' में यद्यपि 'काव्य' का विकसित स्वरूप नहीं दीख पड़ता फिर भी "खूब लड़ी मर्दानी वह तो झांसी वाली रानी थी" थोड़े समय के लिये सनसनी का संचार कर ही देती है ! कवियित्री की यह रचना 'झंडा ऊंचा रहे हमारा' नामक राष्ट्रीय-गान के समान देश भर में— प्रायः सभी भाषा-भाषियों में खूब प्रचलित है ! आपकी राष्ट्रीय कविताओं में 'जलियां वाला बाग में वसंत', 'मातृ-मंदिर में'—, 'मत जाओ' आदि रचनायें उच्च कोटि की हैं ! वात्सल्य-भाव प्रदर्शित करने वाली रचना 'बालिका का परिचय' भावों की सच्ची मूर्ति खड़ी कर देती है—

" यह मेरी गोदी की शोभा, सुख-सुहाग की है लाली !
शाही शान भिखारिन की है, मनोकामना—मतवाली । "
वात्सल्य के अतिरेक का इससे सुन्दर रूप और क्या हो सकता है—

" मेरा मन्दिर, मेरी मस्ज़िद, काबा–काशी यह मेरी।
पूजा–पाठ, ध्यान-जप-तप है, घट–घट–वासी यह मेरी।"

परिचय पूछ रहे हो मुझ से, कैसे परिचय दूँ इसका ?
वही जान सकता है इसको, माता का दिल है जिसका।"

बच्ची के रोने पर मा की बलि–हार भी सुन्दर है:—

" सच कहती हूँ, इस रोने की, छवि को ज़रा निहारोगे।
बड़ी-बड़ी आँसू की बून्दों–पर मुक्तावलि वारोगे।"

'मेरा बचपन' में यौवन-उच्छ्वास का चित्र कितना मधुर है—

लाज-भरी आंखें थीं मेरी, मन में उमँग रँगीली थी।
तान रसीली थी कानों में, चंचल, छैल-छबीली थी!
दिल में एक चुभन सी थी, यह दुनियाँ सब अलबेली थी!
मन में एक पहेली थी, मैं सब के बीच अकेली थी!"

सारांश में, मानवी जीवन में जो कुछ "सत्यं, शिव और सुन्दरम्' है, वह सुभद्राजी की कविताओं में हमें दीख जाता है'। कवियित्री के इस संग्रह पर ५००) का सेकसरिया पुरस्कार-मिल चुका है! हिन्दी-जगत् ने 'मुकुल' का काफी स्वागत किया है।

'आनंद वर्धन' और कविता की श्रेणियाँ

: १७ :

कविता के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न मत पुरस्सर किये जा चुके हैं। वह क्या है; किन तत्वों के समावेश से उसका रूप निर्मित होता है; उसके कितने प्रकार होते हैं और उसका क्या लक्ष्य होता है? आदि प्रश्न नित्य उठते रहते हैं और उनका उत्तर भी दिया जाता है। हम इन्हीं प्रश्नों पर विचार करना चाहते हैं।

व्याख्या

कविता हृदय में न समा सकने वाले उस अनुभूतिवेग का नाम है जो कल्पना के सहारे कोई रूप-विधान कर हमें आनंद-विभोर बनाता है। पाश्चात्य समीक्षकों में हेजलेट ने उसे "भावना और कल्पना की भाषा" कहा है। मैथ्यू-ऑर्नल्ड ने "जीवन की आलोचना", कार्लाइल ने, 'संगीतात्मक विचार' कोर्टहोप ने "कल्पनात्मक विचारों और भावनाओं की छंदोबद्ध आनन्द-अभिव्यक्ति" पो ने "सौंदर्य की लयमय सृष्टि"; शेली ने "कल्पना की अभिव्यक्ति" और वर्ड्सवर्थ ने "सभी प्रकार के ज्ञान की सुन्दरआत्मा और उच्छवास" कहा है।

पाश्चात्य आलोचकों ने कविता में कल्पना, भावावेग, बुद्धित्व और शैली नामक चार तत्वों की स्थिति मानी है।

हमारे देश के विचारकों में मम्मट ने काव्य-प्रकाश में "तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलकृती पुनः क्वापि शब्दों और अर्थों के दोष रहित और गुण सहित और अलंकार रहने या न भी रहने वाली कृति को मम्मट ने काव्य कहा है। उन्होंने कविता में अलकारों का होना आवश्यक नहीं माना है। मम्मट वस्तुतः ध्वनि और रसवादी ही हैं।

विश्वनाथ ने अपने साहित्यदर्पण में मम्मट की "काव्य-व्याख्या" की आलोचना करते हुए कहा है कि मम्मट ने कविता में जो दोष का न रहना आवश्यक माना है वह उपयुक्त नहीं है क्योंकि श्रेष्ठ काव्य में पद-दोष और अर्थदोष में से कोई न कोई दोष निकाला जा सकता है। तो क्या इसीलिये

अन्य दृष्टि से श्रेष्ठ कृति काव्य नहीं कहलायेगी ? विश्वनाथ ने मम्मट की परिभाषा में अलकारों के उल्लेख पर भी आपत्ति प्रकट की है क्योंकि जब बिना अलकारो के भी काव्य हो सकता है तो व्याख्या में उसका कथन अप्रस्तुत है। अतएव साहित्य दर्पण में विश्वनाथ ने 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' (रसमय वाक्य को काव्य) माना है। काव्य में 'रस' की अनिवार्यता की व्याख्या हमारे साहित्य शास्त्रों में बहुत पुरानी है। भरत के नाट्य शास्त्र तथा ध्वन्यालोक में भी काव्य में इसकी स्थिति मानी गई है। साहित्य दर्पणकार के 'वाक्यं रसात्मकम्' में मम्मट का समर्थन है; झगड़ा परिभाषा का ही है। पर रस गंगाधरकार जगन्नाथ पंडित ने यह आपत्ति उठाई कि वस्तु और अलंकार प्रधान रचना में भी यदि खींच तानकर रस का सम्बन्ध जोड़ दिया जाय तो कौन वाक्य रसमय नहीं बन जायगा ? "अतएव विश्वनाथ की परिभाषा अव्याप्तिदोष से पूर्ण है," इसलिये जगन्नाथ पंडित ने अपने रस गगाधर में "रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।" रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द को काव्य कहा है। पर रमणीय शब्द में रस या आनंदातिरेक का भाव निहित होने से वे विश्वनाथ की परिभाषा से बहुत दूर नहीं हैं।

हिन्दी के आधुनिक आचार्यों में पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने कविता पर बहुत विवेचन किया है। उन्होंने उसकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि "जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान दशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रस-दशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिये मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं।"

कविता की अनेक परिभाषाएं पढ़ लेने पर भी हम उसको पूर्ण रूप से व्यक्त नहीं कर पाते। कविता युग युग की ऐसी वस्तु है जिसके सम्बन्ध में विद्यापति का यह कथन सार्थक होता है– "जनम अवधि हम रूप निहारल नयन न निरपित भेल" और वह रूप कैसा है कहा नहीं जा सकता। हम इतना ही कह सकते हैं कि उसमें सौंदर्य होता है, पदका, अर्थका, अभिव्यक्ति का जो हमें आनंदित करता है।

काव्य के स्तर का विभाजन

आनन्द-संचार की दृष्टि से प्रथम बार आनन्दवर्धन ने काव्य-विभाजन की स्पष्ट रूप-रेखा प्रस्तुत की। ध्वन्यालोक में आपने यह सिद्ध किया कि "काव्यस्य आत्मा ध्वनि" (काव्य की आत्मा ध्वनि है) शब्द और अर्थ के अलंकृत रूप में ही काव्य मानने वालों ने ध्वनिवादियों का परिहास किया है; परन्तु हम काव्य को न तो रीति-मात्र मानते हैं न गुण (माधुर्य, ओज और

प्रसाद) मात्र और न अलंकार मात्र। इनके अतिरिक्त काव्य में एक गुण अपेक्षित है। वह है ध्वनि जो वस्तु, अलंकार और रसरूप में हमें आनन्द-विभोर बनाती है। ध्वनिकार का यह कथन हमें उचित प्रतीत होता है कि "ध्वनि एक पदार्थ है जो महाकवियों की वाणी में शब्द, अर्थ और रचना वैचित्र्य के कारण पृथक ही प्रतीयमान होता है।" ध्वनि वादियों ने ध्वनि के तीन प्रकार निर्धारित किये हैं—(१) वस्तु ध्वनि (२) अलंकार-ध्वनि और (३) रस-ध्वनि। वस्तु ध्वनि में भाव ध्वनित होता है, अलंकार-ध्वनि में अलंकार और रस-ध्वनि में रस। वस्तु और अलकार जब ध्वनित होते हैं तो उनमें असाधारण सौंदर्य आ जाता है। रसध्वनि के काव्य में भी हमें वस्तु और अलंकार ध्वनि के दर्शन हो सकते हैं। वास्तव में रसध्वनि ही काव्य का सर्वस्व है और काव्य में रस की स्थिति भी तो ध्वनि से संभव होती है, दूसरे शब्दों में रसध्वनित ही होता है। अतएव आनन्दवर्धन ने उसी काव्य को उत्तम काव्य माना है जिसमें 'ध्वनि' की प्रधानता है। उन्होंने ऐसे काव्य को जहां ध्वनि (व्यग्यार्थ) वाच्यार्थ से दब जाती है, मध्यम काव्य माना है और उसको "गुणीभूत व्यग्य" से अभिहित किया है। ध्वन्यालोक में इसका एक उदाहरण है।—

"लावण्य सिन्धूरपरैव हि केयमत्र यत्रोत्पलानि शशिनासह
उन्मज्जतिद्विरद कुम्भतही च यत्रयत्रापरे कदलिकाण्ड मृणालदण्डा।"

(यहां यह रमणी कौन है जो सौंदर्य का नव समुद्र है जहाँ चन्द्रमा के साथ नीली कमलिनी खिलती है, जहां मत्त हाथी के दो कुम्भ केले की शाखा के साथ कोमल लतासहित स्नान करते हैं।)

उक्त उदाहरण में कवि ने नीली कमलिनी से आंखों, चन्द्र से मुख, मत्त हाथी के कुम्भ से स्तन, कदली से जंघा और लता से बाहु का वर्णन किया है। शब्दों से स्त्री के अंगों का सीधा भाव प्रकट नहीं होता इसलिये व्यंजना का आश्रय लेना पड़ता है पर कवि का लक्ष्य स्त्री का सौंदर्य वर्णन मात्र है क्योंकि वह स्वयं कहता है "यह रमणी कौन है?" इसलिये यहाँ व्यंग्यार्थ गौण हो गया है। अतः यह गुणीभूत व्यग्य काव्य है।

गुणीभूत व्यंग में वाच्यार्थ का सर्वथा लोप अनिवार्य नहीं है। समासोक्ति अलंकार में प्रायः गुणीभूत व्यंग्य रहता है। क्योंकि उसमें वाच्यार्थ और व्यंगार्थ दोनों अभीष्ट रहता है। वाच्यार्थ में जब अलंकार का सौंदर्य ध्वनि को दबा देता है, तब वह मध्यम काव्य का उदाहरण बन जाता है— "कुमिदिनि प्रमुदित भई साँझ कलाधर जायें" इसमें चंद्रमा को देखकर कुमुदिनी का खिलना

भाव भी है और साथ ही नायक को देखकर नायिका के प्रसन्न होनेका भाव भी अभीष्ट है।

मम्मट ने काव्य- प्रकाश में गुणीभूत व्यंग्य के आठ भेद बतलाये हैं--

"अगूढ़मपरस्याङ्ग वाच्य सिद्ध्यङ्गमस्फुटम्।
संदिग्ध तुल्य प्राधान्ये काक्वाक्षिप्तम सुन्दरम्॥"

अगूढ़, स्पष्ट, अपराङ्ग, (पराये का अङ्ग) वाच्य सिध्यंयङ्ग (जिसके आधीन वाच्य अर्थ की सिध्दि हो) संदिग्ध प्रधान (जहां यह संदेह हो कि वाच्यार्थ प्रधान है या व्यंग्यार्थ) तुल्य प्राधान्य (जहां वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ दोनों समान जान पड़ें।), काकुध्वनि से आक्षिप्त (स्वराघात से शीघ्र प्रकट) और असुन्दर (जहां बिना वाच्यार्थ के चमत्कार संभव न हो।)

हिन्दी कविता से हम इन भेदों के उदाहरण प्रस्तुत करने का प्रयत्न करते हैं—

अगूढ़-- तरु बेलों की बाहें मरोड़---
उनका फूला जी तोड़-तोड़
तुझ पर वारूं तब मेरे जी से—
तेरे जी का जुड़े जोड़।
मेरे कोयल! किस कीमत पर
यह कर्कशता किससे होगी? (हिम किरीटिनी)

"दूसरों पर निर्दय व्यवहार कर जब मैं उनका सब कुछ छीनकर तुझे अर्पित करूं तब कहीं तू प्रसन्न हो। पर तुझे प्रसन्न करने से मेरा क्या लाभ होगा?" व्यंग्य स्पष्ट है। जब तक तू मुझे यह न बतला दे कि तेरी पूजा आराधना से क्या प्राप्त होगा तब तक मैं तेरे लिये किसी को दुखाना नहीं चाहता।

अपराङ्ग—

गिरे छिन्न शर शीश मनोहर। व्योम त्रस्त जनु पूर्ण कलाधर।
सब परिपूर्ण जदपि समरांगण, कीन्ह न मालव गण रण-त्यागन॥
युद्धत रण-उन्माद महाना, कब कटि शीश गिरेउ नहिं जाना।
धावत रणकबन्ध उठि नाना, कछु धृत खड्ग कछुक धनु बाणा॥
जदपि अर्ध मृत महि परे, छिन्न भिन्न अँग-अँग।
रहे माँगि शर धनु तबहुं, मिटी न समर-उमंग (कृष्णायन)॥

उक्त उदाहरण में गिरे छिन्न शर शीश..." आदि से वीभत्स रस की अवतारणा होती है, पर साथ ही धावत रणकबन्ध..." आदि में अद्भुत रस की भी

भूमिका है, अद्भुत रस बीभत्स का अंग बन गया है, इसलिये गुणीभूत व्यंग्य है। इसके पश्चात् "अर्धमृत महि परे छिन्न भिन्न अँग अँग" में बीभत्स रस है पर जब "मृत रहे म ँगि शर धनु तबहुँ, मिटी न समर उमंग" में वीर और अद्भुत रस की प्रतिद्वंद्विता मची हुई है। पर उत्साह भाग की प्रबलता के कारण अद्भुत रसका मूल व्यंग्य भाव गौण हो गया है। अतः यहाँ भी गुणीभूत व्यंग्य है।

वाच्य सिद्धव्यंङ्ग– इसमें व्यंग्यार्थ के बिना वाच्यार्थ सिद्ध नहीं होता—

"खेलत सिखये अलिभले चतुर अहेरी मार
काननचारी नैन मृग नागर नरन शिकार ॥"

'चतुर अहेरी' कामदेव ने चालाक मनुष्यों का शिकार करना काननचारी नैन मृगों को सिखला दिया है।

अस्फुट व्यग्यं– इसमें व्यंग स्पष्ट नहीं होता।

"सिंधु सेज पर धरा वधू अब,
तनिक संकुचित बैठी-सी
प्रलय-निशा की हलचल स्मृति में
मान किये–सी ऐंठी–सी।" (कामायनी)

इसमें सुहाग रात की विवशता–भरी घटनाओं की याद में मान किये बैठी किसी नायिका के समान समुद्र के किनारे की धरती का थोड़ा भाग शेष कहा गया है। यह व्यंग्य स्पष्ट नहीं है।

काक्वाक्षिप्त व्यंग्य– 'मैं सुकुमार नाथ वन जोगू!' में काकु से सीता व्यंग्य करती है कि नाथ भी वन के योग्य नहीं हैं–मेरे समान ही सुकुमार हैं।

असुन्दर व्यंग्य—

'जिस पर ...... एक पर्त छाया
हत जिसकी पंकज भक्तिअचल-सी काया
उस सरसी-सी आभरण रहित सित वसना
सिहरे प्रभु मोको देख, हुई जड़ रसना। (साकेत)

प्रारंभ में कौशल्या का व्यंगचित्र समस्त पद्य-भाव से उत्कृष्ट नहीं हो पाया।

काव्य का तृतीय प्रकार है चित्रकाव्य जिसे 'अधम काव्य' भी कहते हैं। इसमें ध्वनि का लेश भी नहीं रहता। चित्र काव्य के दो भेद हैं– शब्द चित्र और अर्थचित्र। शब्द चित्र में अनुप्रासों की जमघट होती है। अर्थचित्र में उत्प्रेक्षाओं का सहारा लिया जाता है। चित्र काव्य के संबंध में

यह कहा जाता है कि यद्यपि उस में 'ध्वनि' का समावेश नहीं होता फिर भी रस से शून्य रचना काव्य कैसे हो सकती है?– वस्तु वर्णन से भी यदि रस की उत्पत्ति नहीं होती तो वह काव्य की किसी भी कोटि में नहीं आ सकता। आनंद वर्धन ध्वनि वादी होते हुए भी रसवादी हैं। अतएव उन्होंने ऐसे चित्र काव्य में जिसमें केवल शब्दजाल या दूरारूढ़ कल्पना है, रसोद्रेक की क्षमता कल्पित नहीं की। यूरप में चित्रकाव्य की बहुत समय तक बड़ी प्रतिष्ठा रही पर वहाँ भी अब समीक्षक ध्वनि और रस की चर्चा करने लगे हैं।

हिन्दी की आधुनिक कविता में विशेषकर छायावाद-युगीन उत्कृष्ट कवियों की रचनाओं में लक्षणा–व्यंजना का–एकछत्र–साम्राज्य रहा है। श्रेष्ठ कवियों ने आनंदवर्धन की परिभाषा के अनुसार ध्वनि को काव्य की आत्मा माना है।

आधुनिक कृतियों में दृश्य-चित्रण के अच्छे उदाहरण मिलते हैं पर उनमें ध्वनि नहीं होती। तो क्या ऐसे काव्य को हम अधम काव्य कहेंगे? यह प्रश्न विचारणीय है। यदि काव्य में जगन्नाथ पंडित के शब्दों में 'रमणीयता' है तो यह अधम-श्रेणी में कैसे रखा जा सकता है? रमणीय वस्तुवर्णन भी हमारे हृदय में भाव की सृष्टि करता है।

उस कृति को काव्य मानने में हमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये, जो भावोद्रेक करती है। भाव या रस काव्य का प्राण है। और भाव या रस तो ध्वनित होता ही है, अतएव हमें उसी कृति को "अधम काव्य" कहना चाहिये जिसमें अलंकार और शब्दों का जमघट केवल शब्द और अलंकारों की चित्र–प्रदर्शिनी सजाने के लिये ही आयोजित हो; कवि का लक्ष्य ही शब्द-अर्थ-चित्र उपस्थित करना हो।

कविता की दो ही श्रेणियाँ हो सकती हैं और-वे हैं (१) भाव या रस सहित (२) भाव या रस रहित। काव्य की मध्यम श्रेणी होनी ही नहीं चाहिये।

"साहित्य-देवता की समीक्षा" :१८:

भावुकता- वश "साहित्य देवता" और "माखनलाल चतुर्वेदी" को अभिन्न मानने वालों की कमी नहीं है। पर इस तादात्म्य भाव से विवेचना का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। इसलिये हम स्रष्टा और सृष्टि में विभेद मान कर ही सहित्य देवता के दर्शन करेंगे। पं. माखनलाल चतुर्वेदी "एक भारतीय आत्मा" के नाम से हिंदी संसार में वर्षों से परिचित हैं। उनके गीतों में आधुनिकता द्विवेदी युग से ही दिखलाई देने लगी थी। आधुनिकता से हमारा तात्पर्य भावों की विशिष्ट प्रकार की अभिव्यक्ति से है जिसे जयशंकर प्रसाद "ध्वन्यात्मक" लक्षणा को वक्रता कहते हैं। 'हिम किरीटिनी' के अनुसार यदि आपके लेखन की जन्मतिथि सन १९१३ मान ली जाय तो उस समय लिखी गई "मेरा उपास्य" इसी कोटि की वक्रता लिये हुए अभिव्यक्ति है—

"लो आया उस दिन जब मैंने
संध्या वंदन बंद किया
क्षीण किया सर्वस्व कार्य के
उज्ज्वल क्रम को मंद किया॥

द्वार बंद होने ही को थे
वायु वेग बल शाली था
पापी हृदय कहाँ रसना में
रटने को वनमाली था?

अर्धरात्रि विद्युत् प्रकाश, घनगर्जन करता घिर आया
लो जो बीते, सहूँ कहूँ क्या, कौन कहेगा "लो आया॥"

गीतांजलि की अभिव्यक्ति की भ्रांति करा देने वाली उक्त पंक्तियों में समय से आगे देखने की सूझ स्पष्ट है। इसी काल की 'प्रसाद' की रचनाओं में भी भाषा की स्वच्छता और अभिव्यक्ति की आधुनिकता नहीं आ पाई थी। इसे स्वीकार करने में हिंदी का समीक्षक तर्क-वितर्क नहीं कर सकता। "एक भारतीय आत्मा" भावों की अपेक्षा भावाभिव्यक्ति की विशिष्टता के कारण ही हिंदी काव्यजगत में विशेष रूप से सम्मानित है। उनके कहने का ढंग-पं,

पद्मसिंह शर्मा के शब्दों में—तर्जे अदा ? सर्वथा उनका है। यद्यपि उसका अनुकरण करने का यत्न तरुण कवियों एवं लेखकों ने बहुधा किया है तो भी किसी की अनुकृति मूल को धोखा नहीं दे सकी।

'साहित्य देवता' चतुर्वेदी जी के बाह्य और आभ्यन्तर दृष्टि-दर्शन का कला-रूप है जिसमें "समय के पैरों के निशान" हैं और मनोभावनाओं के ऐसे चित्रण हैं जिन्हें समय शीघ्र पोंछ नहीं सकता। इस कलाकृति के तीन रूप दीख पड़ते हैं। (१) गद्य काव्य, (२) गद्य गीत, और (३) काव्यमय-गद्य। इन तीनों के होते हुए भी उनमें परस्पर भेद भी है। गद्य-काव्य में कल्पना तत्व की प्रधानता होती है। उसमें गेयता अनिवार्य नहीं है। उसका विस्तार महा-काव्य की कथा का रूप भी धारण कर सकता है और अनेक भावों की योजना भी इसमें हो सकती है। गद्य-गीत में भावावेश अनुभूति की गहराई और प्रवाही भाषा की अपेक्षा की जाती है। वह अतुकान्त गीतिकाव्य के समान है जिसमें एक भाव ही विशेष रूप से ध्वनित होता है। काव्यमय गद्य लेख, कहानी, नाटक, उपन्यास सभी में दृष्ट हो सकता है। इसके लिये केवल भाषा का काव्य-मय होना पर्याप्त है।

साहित्य देवता के उद्गारों में चाहे वे गद्य काव्य के रूप में हों चाहे गद्य गीत के रूप में हों अथवा काव्यमय गद्य का ही बाना पहिने हुए हों, एक चीज स्पष्ट है, और वह है व्यंग्य (satire) "काव्य शास्त्र विनोदेन कालोगच्छतिधीमताम्" की दृष्टि इन में नहीं है। इन व्यंग्यों में विरोधाभास का चमत्कार पल पल दिखाई देता है। हिंदी के किसी आधुनिक कवि ने विरोध के आधार पर सूक्तियों के इतने अधिक गगनचुम्बी प्रासाद शायद ही खड़े किये हों। साहित्य देवता शीर्षक उद्गार की निम्न पंक्तियां पढ़िये—

"आँखों की पुतलियों में यदि तुम कोई तसवीर न खींच देते तो वे बिना दाँतों के ही चीथ डालतीं; बिना जीभ के ही रक्त चूम लेतीं परंतु तुम साधे कहाँ बैठते हो; तुम्हारा चित्र बड़ी टेढी खीर है तुम देवत्व को मानवत्व की चुनौती हो।...... तुम नाथ नहीं हो इसलिये मैं अनाथ नहीं हूँ...... प्यारे ! इस समय अधोगति की ज्वाल मालाओं से ऊँचा उठने के लिये आकर्षण चाहिए।" "मुक्ति भरत जहँ पानी" में भी इसी प्रकार के विरोध-दर्शन होते हैं। "वह मेरे घर ही में रहता है पर जीवन भर हम एक दूसरे से नहीं मिले।" "जब रसवंती बोल उठे" में एक जगह कहा गया है— "जब मेरा प्यार नन्हें बालक की तरह खारी पुतलियों की मीठी गोद पर उतर कर चढ़ा करता है तब काल के अनंत परदे उठ उठ कर मेरे संकेत का स्वरूप-दर्शन किया करते हैं।"

ऊपर कहा गया है कि साहित्य देवता के उद्‌गार गद्य काव्य, गद्यगीत और काव्यमय गद्य के रूप में व्यक्त किये गये हैं। गद्यकाव्य के अन्तर्गत आशिक, असहाय, श्यामघन, तुम आनेवाले हो, मुरलीधर, गृह-कलह, इसीवार, मोहन, दूर की निकटता, आदि में गीतितत्व की ध्वनि है। क्योंकि उनमें एक ही भाव बारबार प्रतिध्वनित होता है। 'तुम आनेवाले हो' में बिना तुक का यह भाव तुक के गीत से अधिक मगीतमय है—

" मेरा सारा बाग बिना मौसम के ही फूल उठा
इसलिये कि तुम आनेवाले हो
और फूल भी नीले हैं, पीले हैं, लाल हैं, हरे हैं, बैंजनी हैं, नारंगी भी हैं मगर इन फूलों पर गूँजनेवाले परिन्द सब एक ही रंग के हैं, कृष्ण, श्याम, काले।"

"मुरलीधर" का एक अंश सुनिये—

"क्या तुम संगीत हो!

तुम मेरे संगीत नहीं हो, आलापों की तरह तुम मेरी मर्जी पर लौटते कहाँ हो? माना कि तुम्हारी कृपा के बादल बेएख्तयार बरस पड़ते हैं पर उस समय तुम मेरी मलार नहीं बने होते।......

आह! तब तुम वीणा हो? नारद के नाद ब्रह्म से विश्वझंकृत कर देने वाली! परन्तु वीणा तो मेरी गोद में रहती है। तुम कहाँ यह शर्त स्वीकृत करते हो? माना झनकारते ही वीणा स्वर देती है, मनुहारते ही तुम दौड़ आते हो, किन्तु मेरे स्वर पर सदा ही तो तुम्हारे तार नहीं मिलते। स्वर से स्वर न मिलने पर, स्वर-लहरी से विश्व भर देने वाली वीणा को गोद में लेकर और हृदय से लगाकर भी, मुझे उसके कान ऐंठने पड़ते हैं। पर हाय! तुम तो मेरे कानों को वीणा बनाने के लिये घूमते हो।

—तब मधुर मुरली के सिवा तुम और क्या हो?"

संगीत की तरह ध्वनित होने वाले गद्यगीतों का आस्वाद लेने के बाद साहित्य देवता के उन गद्य काव्यों का परिचय प्राप्त करेंगे जिनमें भावों की संगीतात्मकता तो नहीं है पर भावुकता अवश्य है। इनमें मुक्ति भरत जहँ पानी, साहित्य देवता, साहित्य की वेदी, असहाय नाश, अमर निर्माण, गिरिधर गीत है और मीरा मुरली है, लहरें चीर–विजया मना, आदि उद्‌गार इसी कोटि के हैं। "लहरें चीर...का गद्य कवित्व देखिये—

"परायेपन के इस बारापार में क्या अपने अस्तित्व को डूबने से बचाये रहना और आराध्य–तट तक पहुँचना है। तो लोहे की दीवारें सागर के तरल वक्ष-स्थल पर दौड़ाना और पानी में आग लगाना सीखिये। क्या अपने दुर्भाग्य

को दो टुकड़े कर देना है ? तो उठिये, सागरों और महासागरों का आमंत्रण स्वीकृत कीजिये, दुर्भाग्य समुद्र की लहरों में जा छिपा है, लहरें काटते चलिये, दुर्भाग्य और बेड़ियां दोनों कटते चलेंगे।"

काव्यमय गद्य के अन्तर्गत उन उद्‌गारों को हमने परिगणित किया है जिनमें भावुकता की अपेक्षा चिंतन की प्रधानता है और उन्हें भी जो लम्बी कहानी बनाते हैं। यों कहानी गद्यकाव्य के अन्तर्गत भी ली जा सकती है पर विस्तार और कथातत्व के कारण हमने उन्हें काव्यमय गद्य ही माना है। ' जोगी ' इसी प्रकार की कहानी है। जब रसवंती बोल उठे " में तरुणाई और कविता की विवेचना करते हुए कहा गया है—

" तरुणाई और कविता ये दो वस्तुएँ नहीं हैं किन्तु एक ही वस्तु के दो नाम हैं। तरुणाई प्रतिभा की जननी की गोद है। उम्र के उतार में प्रतिभा तरुण रह सकती है और अमर अनहोने पन के साथ बढ़ती जा सकती है। किन्तु उम्र के द्वारा जीवन के कील कांटें ढीले होना शुरू होने के बाद प्रतिभा अपने जन्म का प्रथम दिन मनाने नहीं आती। अतः तरुणाई को गिरफ्तार करो और उसमें अपने जीवन कणों को जोर से बोलो।"

" महत्वाकांक्षा की राख " में समालोचक पर तीखा व्यंग्य है—

लिखने की सुखी इच्छा को दफनाने के दिन को ही समालोचन के मंगल प्रभात बनने का गौरव प्राप्त है।" यह असफल कवि समालोचक हो जाता है—जैसी ही बात है। आगे फिर कहा गया है, "आपने लेखन को दफनाने की आवश्यकता क्यों समझी ? चोरों की दुनियां में अधिक दिन रहना ठीक न समझा। समालोचक किस तरह अपनी धाक जमाता है उसे सुनिये— 'समालोचना के जगत में अनेक बाल लेखकों का संहार कर समालोचक को छाप जमानी होती है।" फिर प्रश्न उठता है 'छोटे बच्चों को चलना सिखाने के लिए माताएं भी बच्चों के साथ उनकी अंगुली पकड़ कर चलती हैं। वे उन्हें गिरने नहीं देतीं। क्या समालोचक के लिये यही करणीय नहीं है ? "ना, हमारे प्रभाव का तूफान जिन्दा रखने के लिये और हमारे अस्तित्व के "बैरागी" जीवन पर भस्म लपेटने के लिये तरुण लेखकों की महत्वाकांक्षा की राख जरूरी है।"

अँगुलियों की गिनती की पीढ़ी में साहित्य और कलाकार का सुन्दर विवेचन है। कलाकार का जीवन द्वैत में अद्वैत और अद्वैत में द्वैत की अनुभूति होनी है। कलाकार राहगीर का समय काटने की वस्तु मात्र नहीं होता। वह समय

का पथ प्रदर्शक राहगीर होता है। "कलाकार के स्वरों में रंग होते हैं और रंगों में स्वर होते हैं। उसके चित्रण की आत्मा सजीव होती है।" "बैठे बैठे का पागलपन" में प्रेम पर चिंतन किया गया है। उसकी व्याख्या है "प्रेम साहित्य के जगत में हृदय को छूलेने वाली मिट्टी किन्तु पुरुषार्थमयी सुकोमलता का नाम है।"

खोजने पर साहित्य देवता में सूक्तियों की कमी नहीं मिलेगी। चतुर्वेदीजी हिंदी के उच्च कोटि के मुक्तक कवि हैं। उनका साहित्य-देवता मुक्तक काव्य का जो गद्य की वाणी में बोल रहा है, स्पृहणीय आदर्श है। हिंदी साहित्य को उनके द्वारा इसी कोटि की भेंट संभव थी। यह गद्य काव्य की भूमिका-मात्र नहीं है, स्वयं गद्य काव्य की प्रकृत वस्तु है।

प्रबन्ध-काव्य और कृष्णायन :१९:

उपनिषदकार कहते हैं कि "आनन्द से ही सब कुछ उत्पन्न हुआ है, जी रहा है और आनन्द की ओर ही सब कुछ उन्मुख है।"

आनन्दतत्व की इसी महत्ता के कारण ही संभवत: मानव व्यापार को 'जीवन-लीला' से संज्ञापित किया गया है क्योंकि 'लीला' में उल्लमय गति का भाव निहित है। यदि मनुष्य के जीवन में 'लीला' का ही सन्दोल है तो फिर दु:ख की अवस्थिति क्या काल्पनिक है? नहीं, दु:ख के 'सीकरों' ने ही आनंद को 'रस' से अभिषिक्त किया है। अन्यथा दु:ख के अभाव में आनंद का सुख ही काल्पनिक हो जाता। आनन्द की निश्चयात्मकता ही दु:ख के ताप को सह्य बना देती है और उसमें सुख का भीना सा संचार भी कर देती है। अत: आनन्द ही अन्तिम अवस्था है।

साहित्य के जीवन से उद्भूत होने के कारण उसका परम लक्ष्य स्वभावत: 'आनन्द' माना गया है और आनन्द की पूर्ण अनुभूति का मान ही काव्य शास्त्रों में 'रस' है।

प्रश्न होता है—क्या इस 'रसानुभूति' को व्यक्ति तक रखना ही काव्य को अभीष्ट है या समष्टि भी उसका अधिकारी है? दूसरे शब्दों में—क्या साहित्य व्यक्तिगत है या समाजगत अथवा उससे दोनों का समाधान होताहै? व्यक्ति-गत साहित्य को पूर्व में 'स्वान्त:सुखाय' कहा जाता है और पश्चिम में 'कला कला के लिये'। पर दोनों के 'भाव' में अन्तर है। यहां लोकहित साध कर काव्य 'स्वान्त-सुखाय' होता है और वहां 'कला कला के लिये' में 'लोकहित' आवश्यक नहीं है। कोई साहित्य 'व्यक्तिगत' रह कर शाश्वत नहीं बन सकता; उसे 'जीवित' बने रहने के लिये अनेक व्यक्तियों तक पहुँच कर उसके 'रूप' और 'व्यापारों' को अपने में प्रतिबिम्बित करना ही होगा—इतना ही नहीं उन्हें गतिशील बनाने की क्षमता भी उसमें आवश्यक है। अलंकार-शास्त्रियों ने 'रस' को 'अहेतुक' भले ही कहा हो पर उसकी अनुभूति से उत्पन्न प्रभाव 'अहेतुक' कैसे रह सकता है? इसलिए 'कला कला के लिये' कहा गया आत्मगत 'साहित्य' केवल 'शब्द जाल' है। वास्तव में वह होता है 'सर्व-गत' ही।

जिस समय 'कवि' के हृदय में कोई 'सत्य' उदित होता है तब वह अदम्य आत्माभिव्यञ्जना के भाव से अस्वस्थ हो उठता है। अतः प्रकृतिस्थ होने के लिए या तो वह गा उठता है या बोलता है—'कह' चलता है। उसकी पहिली चेष्टा 'गीति' (Lyric) का रूप धारण करती है और दूसरी 'प्रबन्ध' का। सत्य की अनुभूति में यदि विविधता और गहराई होती है तो वह प्रायः 'प्रबन्ध' का ही रूप धारण करती है। प्रबन्ध या महाकाव्य में जीवन अपनी पूर्णता को लेकर उतरता है; कभी चढ़ता, कभी गिरता और कभी सँभलता हुआ वह अभिप्सित की ओर अग्रसर होता है।

भारतवर्ष में जीवन को खंड-खंड कर देखने की साध प्रबल नहीं रही; उसकी एकता—पूर्णता—में उसकी आस्था है। यही कारण है कि प्राचीन युग में 'महाकाव्यों' की सृष्टि अधिक हुई है। जिस समय आदि कवि को 'क्रौंच-वध' से किसी महान सत्य की उपलब्धि हुई तो वे उसे 'गीत' में भर कर स्वस्थ नहीं हुए, उसे व्यक्त करने का महान साधन ढूँढने को वे व्यग्र हो उठे और 'राम' के विशाल लोकहित साधक चरित द्वारा उन्होने अपने को प्रकाशित किया। 'व्यास' ने महाभारत में 'कृष्ण' के आख्यान द्वारा यही कार्य किया। इन दो 'महाकाव्यों' ने भारतीय जनता के जीवन को कितना अनुप्राणित और उद्वेलित किया है, इसका पता इसी से लग जाता है कि इनको आधार मान कर परवर्ती कवियों ने अनेक प्रबन्ध काव्यों की सृष्टि की और विशेषता यह है कि सभी अपने समय की संस्कृति और आवश्यकताओं से परिवेष्टित होने के कारण 'नित-नूतन' बने हुए हैं और अजस्र 'रस' की वर्षा कर रहे हैं। महाकाव्यों की इसी विशेषता के कारण डा. जानसन ने उन्हें 'मानव प्रतिभा की महान अभिव्यक्ति' (The greatest manifestation of human genius) कहा है। यह सच है कि महाकाव्यों की सृष्टि सदा नहीं होती पर जब होती है, तब वे निर्जीव समाज में 'जीवन' भर देते हैं, उसे आलोकित कर देते हैं—सघनान्धकार में असंख्य बिजलियाँ-सी कौंधा देते हैं, और उसके मार्ग को प्रशस्त बना देते हैं। महाकाव्य युग से निर्मित ही नहीं होता; युग का निर्माण भी करता है। क्या भाषा, क्या विचार, क्या 'दर्शन'—सभी में उसका अपनत्व होता है। अरस्तू ने तो महाकाव्य में भाषा सौन्दर्य को अधिक महत्ता दी है; उसने 'अद्भुत रस' की अवतारणा भी उसमें उचित समझी है। घटनाओं की शृङ्खला पर भी वह अधिक जोर नहीं देता पर साहित्य दर्पणकार विश्वनाथ ने 'महाकाव्य' को 'शास्त्र' की इतनी अधिक नियम-शृंखलाओं में जकड़ दिया है कि हिन्दी-अहिन्दी किसी भाषा का ग्रंथ उनकी कसौटी पर खरा नहीं उतर सकता। बाबू द्विजेन्द्रलाल राय ने अरस्तू की प्रेरणा से ही संभवतः कहा है— 'महाकाव्य'

एक या एक से अधिक चरित लेकर रचे जाते हैं। लेकिन महाकाव्य में चरित्र-चित्रण प्रसङ्ग मात्र है। कवि का मुख्य उद्देश्य होता है प्रसङ्ग-क्रम में कवित्व दिखाना। महाकाव्य में वर्णन ही (जैसे प्रकृति वर्णन, घटनाओं का वर्णन, मनुष्य की प्रवृत्तियों का वर्णन) कवि का प्रधान लक्ष्य होता है, चरित्र उपलक्ष्य मात्र होते हैं। महाकाव्य में घटनाओं की एकाग्रता या सार्थकता का कुछ प्रयोजन नहीं है।" राय की यह व्याख्या कवि को अधिक स्वतंत्र बनाती है और वह प्रकृत भी है।

काव्य को 'रस' की वस्तु मानने वालों की धारणा है कि 'मुक्तक' या 'गीति-काव्य' ही 'रस' के 'पात्र' हैं—उन्हीं में वह छलछला सकता है। प्रबन्ध-काव्य तो इतिवृत्ति को लेकर चलता है; उसका रस कथा में हो सकता है, 'भावना' में नहीं।

यह सच है कि प्रबन्ध काव्य 'कथा' को लेकर चलता है। अतः उसकी प्रति पंक्ति में 'रस' नहीं खोजा जा सकता। उसमें तो कवि द्वारा निर्मित कतिपय स्थल या प्रसंग ही 'रस' की उद्भावना करते हैं! महाकाव्य 'भावना' या किसी प्रेरणा से सृष्ट हो सकता है, पर वह आदि से अन्त तक 'भावना मय' ही नहीं रह सकता और कोरी 'भावना' ही तो किसी साहित्य को ग्राह्य नहीं बना सकती। जब तक उनमें बुद्धितत्व का समावेश नहीं होगा, उसकी सार्थ अभिव्यक्ति नहीं होगी। यदि यह मान लें कि प्रबंध काव्य में 'रस' 'कथा' जन्य होता है,तब भी कोई आपत्ति नहीं है। क्या गद्य में लिखी 'कहानी' पढ़कर कभी हमारी आँखे नहीं भींग उठतीं? क्या यह 'करुण-रस' की अवतारणा का चिन्ह नहीं है? किसी 'रस' की निष्पत्ति के लिए काव्य में किसी शास्त्रीय "भूमिका' की आवश्यकता नहीं है। जब "रस" की स्थिति श्रोता या पाठक का मन है, तब काव्य का प्रबन्ध या गीति-रूप गौण है। न जाने काव्य का कौन सा शब्द, कौन सी पंक्ति पाठक या श्रोता के मन के सुप्त संस्कार को जगा देती है और वह भावाक्रांत हो जाता है। 'रस' की निष्पत्ति श्रोता या पाठक के संस्कारों की गहनता और तीव्रता पर निर्भर है। पर साधारणतः महाकाव्य या प्रबंध काव्य में जीवन को प्रभावित करने वाले जितने अधिक सुख-दुख के प्रसंग होंगे उतने ही अधिक वे 'रस'-निष्पत्ति के साधन बनेंगे और वह उतना ही अधिक सरस काव्य समझा जायगा। यही कारण है कि 'प्रबंधकार' कथा-वर्णन की शृङ्खला जोड़ते रहने की अपेक्षा प्रभावकारी स्थलों पर अधिक रमता है; क्योंकि वह अपने पाठक को अपने से पृथक नहीं रखना चाहता। इसीलिये कभी कभी वह यथार्थता की बलि देकर भी लोक प्रचलित चमत्कारिक घटनाओं का समावेश कर लेता है। महाभारत, रामायण, ईलियड, ओडेसी, डिवाइन कमेडी, पेरडाइज़ लास्ट आदि

में 'चमत्कार-तत्व' के समावेश का यह भी एक कारण है। कवि लोक-भावना की सर्वथा उपेक्षा कर 'लोक' तक अपने को नहीं पहुँचा सकता।

प्रबंध काव्य और महाकाव्य

सभी महाकाव्य प्रबंध काव्य होते हैं, पर सभी प्रबंध काव्य महाकाव्य नहीं होते। कोई भी श्रृङ्खलाबद्ध कथा काव्य का रूप धारण कर 'प्रबंधकाव्य' कहला सकती है, पर 'महाकाव्य' बनने के लिए उसमें केवल जीवन की पूर्णता ही बस नहीं है। उसकी गहनता तथा विविध अन्तर-बाह्य संघर्ष भी अपेक्षित हैं। उसमें मानव के मूल भावों का नर और नरेतर सृष्टि से सम्बन्ध और समन्वय की आकांक्षा भी दृष्ट हो उठती है। महाकाव्य में राष्ट्र की भावनाओं का इतिहास चित्रित हो जाता है—उसकी संस्कृति बोल उठती है। जो प्रबंधकाव्य जीवन की जितनी विविधता और गंभीरता को ग्रहण कर सकेगा, उतना ही वह 'महाकाव्य' के निकट पहुँच सकेगा। प्रबंधकाव्य युग को ही वस्तु हो सकता है; महाकाव्य युग-युग की ही वस्तु हो सकता है।

हिन्दी के प्रबंध काव्य

हिन्दी में प्रबंधकाव्य का प्रारम्भ १३ वीं शताब्दी के लगभग माना जाता है पर देश की राजनीतिक उथल-पुथल में उनका अस्तित्व ही नहीं रह गया है। हमें विक्रम की १६ वीं शताब्दी से 'प्रबन्धकाव्य' की परम्परा मिलती है। काल-क्रम से प्रबंध-ग्रन्थों की सूची नीचे दी जाती है—

(१) लक्ष्मणसेन पद्मावत की कथा (दामो कवि) सं० १५१६
(२) मृगावती (कुतबन शेख) सं. १५६६
(३) मधु मालती (मंझन कवि) १६ वीं शताब्दी
(४) पदमावत (मलिक मुहम्मद जायसी) १६०५-सं. वि.
(५) ढोला मारू की कथा (हरराज) १६०७ सं. वि-
(६) माधवानल कामंद कला (आलम कवि) १६४८ सं. वि.
(७) चित्रावली (उसमान कवि) १६७० ,,
(८) रस-रतन (पोहर कवि) १६७३ ,,
(९) ज्ञान दीपक (शेख नबी) १६७६ ,,
(१०) कनकमंजरी (काशीराम) संवत् अनिश्चित
(११) गुणसार (राजा अजीतसिंह) १७६९ ,,
(१२) हंस जवाहिर (कासिम शाह) १७९४ ,,
(१३) इंद्रावती (नूर मुहम्मद) १८०१ ,,
(१४) कामरूप की कथा (हर सेवक मिश्र) १८०८ ,,

(१५) हरदौल चरित (बिहारीलाल) १८१५　　　　　　　　　　　　　　„
(१६) चन्द्रकला (प्रेमचंद) १८५३　　　　　　　　　　　　　　　„
(१७) प्रेम रत्न (फाजिल शाह) १९०५　　　　　　　　　　　　　　„
(१८) प्रेम पयोनिधि (मृगेन्द्र) १९१५　　　　　　　　　　　　　„
(१९) मधुमालती की कथा (चतुर्भुजदास) बीसवीं शताब्दी।　　　　　„
(२०) चित्रमकुट की कथा (अज्ञात)

वर्तमान प्रबंध काव्यों की नामावली इसमें नहीं है।

इसमें रामचरितमानस का भी उल्लेख नहीं है क्योंकि वह केवल प्रबन्ध काव्य ही नहीं है, महाकाव्य भी है! उसमें हिंदू जातीयता का अमर इतिहास है; उसने 'भारतवर्ष' में ही नहीं यूरप में भी प्रवेश पा लिया है। कई भाषाओं में उसके अनुवाद हो चुके हैं। इसकी रचना विक्रम की १७ वीं शताब्दी में हुई थी। उपरिलिखित सूची में हिन्दू मुसलमान दोनों द्वारा प्रबंध काव्यों की सृष्टि हुई है, पर उनमें महाकाव्य के निकट पहुँचने का गौरव किसी को प्राप्त नहीं है। क्योंकि उसमे से अधिकांश में मानव जीवन के एक मूल भाव-रति-का, जिसके वात्सल्य, भागवत और दाम्पत्य रूप होते हैं, विकास मात्र मिलता है। तुलसी ही उस खेवे के ऐसे कवि हुए हैं, जिन्होंने जीवन को उसके विस्तार की समता और विषमता के विभिन्न रूपों के साथ देखा था! आधुनिक युग में भी कतिपय प्रबन्ध काव्यों का सृजन हुआ है, पर वे "गीति काव्य" ही अधिक हैं; उनमें काव्य का माधुर्य कम नहीं है, हृदय को रस विशेष से सराबोर करने की क्षमता भी कम नहीं है, पर जीवन को गंभीर दृष्टि से देखने-परखने और वर्तमान समस्याओं का हल खोजने का प्रयास उनमें अधिक नहीं है। उनमें शरीर की प्यास बुझती है, तो आत्मा अतृप्त रह जाती है और यदि आत्मा की तुष्टि होती है, तो शरीर 'अभाव' में छटपटाता है।

'कृष्णायन' का प्रादुर्भाव

हिंदी साहित्य के इस गीतिकाल में पं० द्वारका प्रसाद मिश्र के 'कृष्णायन' का प्रादुर्भाव होता है और वह भी खड़ी बोली में नहीं, अवधी भाषा में। जिन संघर्षमयी परिस्थितियों में उनका जन्म हुआ है, वह 'कृष्णकाव्य' के सर्वथा अनुरूप है।

"जन्मेहु बन्दीधाम, जो जन जननी मुक्ति हित
बन्दहुँ सोइ घनश्याम, मैं बन्दी बन्दिनि तनय ॥"

भारतीय कवियों को राम और कृष्ण ने जितना अनुप्राणित और प्रेरित किया है, उतना शायद ही किसी ने किया हो। वे अयोध्या के राजा दशरथ

और मथुरा के वसुदेव–देवकी के पुत्र क्रमशः राम तथा कृष्ण के रूप में काव्य में अवतीर्ण होते रहे हैं और हृदय ही में स्पंदित होने वाले 'निरंजन निराकार' बनकर भी आत्म विभोर करते रहे हैं। कबीर के 'राम' में निर्गुण 'ब्रह्म' और मीरा के 'कृष्ण' में सगुण 'जोगी' का कम्पन है। प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों रूपों में वे हिंदी काव्य के रंजन रहे हैं। 'कृष्ण' मंत्र-द्रष्टा कोई ऋषि हैं या व्यास महाराज की मनोहर कल्पना, इसकी छान-बीन यहाँ अपेक्षित नहीं है।

कृष्णायन के कृष्ण की कथा का स्रोत श्रीमद्भागवत ही नहीं है, महाभारत तथा अन्य पुराण भी हैं। विभिन्न स्रोतों से संचित घटनाओं को इस कौशल से प्रबद्ध किया गया है कि कथा की एक सूत्रता कहीं भी विच्छिन्न नहीं होती पर साथ ही वह बरसाती नदी की भांति अधीर होकर भी नहीं बहती। वह कभी मानव सौन्दर्य पर मुग्ध हो उसके चित्रण में ठगी सी रह जाती है, कभी सृष्टि की अनन्त सुषमा का सविस्तर वर्णन करने के लिए ठहर जाती है और कभी अन्तर बाह्य मानव द्वन्द्वों में काफी समय तक उलझी रहती है। इसका कारण यह है कि कवि में कृष्ण-कथा कहने की त्वरा नहीं दिखलाई पड़ती। चरित्र-वर्णन के साथ ही काव्योत्कर्ष-दर्शन भी उसका लक्ष्य रहा है इसीलिये कृष्णायन चरित काव्य मात्र न रह कर महाकाव्य भी बन गया है। कृष्णायन के सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य बात यह है कि उसमें कृष्ण-चरित्र होने पर भी वह कृष्ण-सम्प्रदाय की परम्परा का काव्य नहीं है। 'गीत गोविन्द' के गायक जयदेव ने कृष्ण काव्य में जिस माधुर्य रस की निर्झरिणी प्रवाहित की उसके पूर्व में विद्यापति और पश्चिम में सूर को आप्लावित कर काव्य में एक परम्परा को जन्म दिया। सूर के दीक्षा गुरु वल्लभाचार्य को अपने सम्प्रदाय की भावना के प्रचार में इससे बड़ी सहायता मिली। व्यवहार पक्ष में वे पुष्टि मार्ग के समर्थक थे जिसमें प्रपत्ति (कृष्ण के प्रति आत्म समर्पण) के भाव को साध्य माना जाता है। उनके मत से आत्म समर्पण के द्वारा ही भगवान कृष्ण का अनुग्रह प्राप्त किया जा सकता है। अतः कृष्ण की लीला का चिन्तनमनन और अनुकरण ही वल्लभ सम्प्रदायी भक्तों का जीवन-व्यापार बन गया। अतएव आचार्य और उनके भक्त शिष्यों ने कृष्ण भगवान की लीला का ही सम्प्रदाय की सीमा के अन्दर ही मधु गान किया है। ये लीला-गायक वास्तव में पहले वल्लभ सम्प्रदायी भक्त थे, बाद में कवि। इसी से इनके काव्य में भक्ति रस अथवा उज्वल रस की निष्पत्ति चरम सीमा तक हो सकी है। भागवत में भक्ति रस को ही परम रस और भक्त को ही परम रसिक कहा गया है और यही ग्रंथ कृष्ण भक्त कवियों का प्रेरणा-स्रोत रहा है। रीतिकालीन कवियों ने उज्वल रस के आलम्बन राधा और कृष्ण को

स्वीकार तो अवश्य किया पर उनके बहाने शृङ्गार काव्य की ही सृष्टि की; लोक लीला का ही विस्तार किया। आधुनिक कृष्ण कवियों में भी भगवान कृष्ण का लीला अर्थात् गोपी जन वल्लभ रूप ही अधिक मिलता है। हरिऔध के प्रिय प्रवास को छोड कर प्राय: सभी काव्य गीति पद्धति पर रचे गये हैं जो कृष्णकाव्य की विशेषता समझी जाती है। इसी लिये कुछ व्यक्तियों की यह भ्रान्त धारणा हो गयी है कि कृष्ण चरित्र प्रबन्ध की भूमि पर पल्लवित ही नहीं हो सकता। इस सम्बन्ध में पं० रामचन्द्र शुक्ल ने बहुत स्पष्ट कहा है कि कृष्ण भक्त कवियों ने श्री कृष्ण भगवान के चरित्र का जितना अंश लिया वह एक अच्छे प्रबन्ध काव्य के लिये पर्याप्त न था। उसमें मानव जीवन की वह अनेकरूपता न थी जो कि एक अच्छे प्रबन्ध काव्य के लिये आवश्यक है। कृष्ण भक्त कवियों की परम्परा अपने इष्ट देव की केवल बाल लीला और यौवन लीला लेकर अग्रसर हुई जो गीत और मुक्तक के लिये उपयुक्त थी।" कृष्णायन कृष्ण के इन्हीं दो पक्षों को लेकर नहीं चला वह उनकी अनेक रूपता पर प्रकाश डालने के कारण लीक से प्रथक है। विद्यापति को छोड़ कर हिन्दी के अधिकांश कवियोंने कृष्ण चरित के लिये ब्रज भाषा का आश्रय लिया। अत: सामान्य लोगों की यह धारणा बन गई कि कृष्ण चरित ब्रज भाषा में ही गाया जा सकता है। कृष्णायण के कविने इस धारणा का भी पोषण नहीं किया और ब्रजभाषा के स्थान पर अवधी का प्रयोग किया है। तथा दोहा चौपाई और सोरठा छन्दों का आश्रय लिया है। कृष्णायन के पूर्व हिन्दी में कृष्ण-चरित्र लिखने का बहुत प्रयत्न किया गया पर वह खंडित रूप में हमारे सामने आया है। संवत् १८०६ में ब्रज वासी दास ने अवधी में दोहा–चौपाई–शैली में कृष्ण चरित लिखने का प्रयास किया था पर उसमें उद्धव के वृन्दावन पहुँचने तक का ही प्रसंग आ पाया है। एकाध ने और भी रामायण के ढंग पर कृष्ण का चरित्र लिखा है पर इन सब का साहित्यिक स्तर निम्न हैं। इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि मिश्रजी का कृष्णायन कृष्णपरम्परा का काव्य नहीं है और इसका कारण यह है कि कविने उक्त परम्परा के अधिनायक सूर को नहीं, तुलसी को अपना आदर्श माना है। और सूर के समान तुलसी ने केवल लीला के लिये लीला-गान नहीं किया है। आज से पचास वर्ष पूर्व ग्रियर्सन ने लिखा था कि मुझे एक मिशनरी ने बतलाया कि उत्तर भारत को समझने के लिये तुलसी की रामायण का गम्भीर अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। इसका आशय यही है कि रामायण में राम की कथा मात्र नहीं है, राम का उच्चार करने वाले असंख्य जन समाज का मानसिक और सांस्कृतिक प्रतिबिम्ब है फिर चाहे वह भारत के उत्तर भाग में हो या दक्षिण में।

तुलसी के पद चिन्हों पर चलने वाले कृष्णायनकार ने भी अपने काव्य में भारतीय ज्ञानधर्म और संस्कृति के पुनरुद्धार का पवित्र संकल्प और प्रयास किया है।

'कृष्णायन' को पढ़ते ही हमें स्वभावतः दो कवियों का स्मरण हो आता है। कृष्णचरित होने से 'सूर' का और अवधी-भाषा में 'दोहा-चौपाई' छन्द होने से 'तुलसी' का। पर, 'सूर' तथा उनके पूर्व एवं परवर्ती कवियों ने 'कृष्ण' जीवन के 'खण्ड' को ही देखा है। उनकी 'बाल और यौवन वृत्तियों' पर ही उनकी दृष्टि गई है। 'सूर' को अपने पूर्ववर्ती कवि जयदेव, विद्यापति आदि से 'परम्परा' में कृष्ण का जो 'मधुर रूप' प्राप्त हुआ था, उस को उन्होंने ब्रज की मधुरवाणी में गा दिया इस तरह अपने पूर्ववर्ती कवियों से वे आगे बढ़ सके। इसमें सन्देह नहीं उनके 'गीतों' में बाल मनोवृत्तियों की जैसी विशद उद्भावना हुई है, वह हिन्दी साहित्य के लिए गर्व की वस्तु है। शृंगार के संयोग और वियोगपक्ष मे भी उनकी सहृदयता का माधुर्य बरस उठा है, परंतु जैसा कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल का कहना है 'जीवन की गंभीर समस्याओं से तटस्थ रहने के कारण सूर में वस्तु-गाम्भीर्य नहीं है। कृष्ण के लोक संग्र रूप में उनकी वृत्ति लीन नहीं हुई। जिस शक्ति से बाल्यावस्था में प्रबल शत्रुओं का दमन किया गया, उसके उत्कर्ष का अनुरंजनकारी और विस्तृत वर्णन उन्होंने नहीं किया।" सचमुच सूर के 'बकासुर' अघासुर, कंस आदि के वध के वर्णन में ओज नहीं है। 'सूर' के गीति-काव्य में स्वभावतः इस प्रकार की 'पूर्णता' के लिए क्षेत्र नहीं था। मिश्रजी ने इसी से अपने को 'गीत काव्य' को संकुचित सीमा में नहीं रखा; उन्होंने तुलसी के समान 'कृष्ण' के 'शील'-सौंदर्य और शक्ति-तत्वों को 'प्रबन्ध' रूप देकर 'महाकाव्य' की सृष्टि की है। 'कृष्णायन' का 'वात्सल्य' 'सूर' के रस से मधुर बन गया है, इसमें सन्देह नहीं, पर कृष्णायन के 'साम-र्थ्यवान कृष्ण' 'सूर' में कहां समा सके हैं? उनकी सृष्टि ता सर्वथा पं. द्वारका-प्रसाद मिश्र की ही है। यदि तुलना ही की जाय तो कहा जा सकता है कि सूर में 'माधुर्य' अधिक है; मिश्र जी में 'ओज' अधिक है। जहां सूर ने कृष्ण के 'शक्ति' तत्व को प्रायः छोड़ दिया है, वहां उसी की मिश्र जी ने उत्साह से उद्भावना की है। 'सूर' के समान मिश्र जी एक ही 'भाव'—विशेषतः शृंगार को उसके अंग प्रत्यंगों के साथ व्यंजित करने के लिये नहीं रुके पर जहाँ शौर्य और उत्साह के स्थल आये हैं, वहां उनका मन खूब रमा है। कृष्णायन को हम इसीलिए 'शक्ति का काव्य' मानते हैं। महाकवि 'सूर' का 'सौंदर्य' क्षेत्र मिश्र जी का क्षेत्र नहीं है।

'कृष्णायन' में प्रबंधत्व होने के कारण 'तुलसी' की 'रामायण' के निकट वह अधिक पहुँचता है। तुलसी और पं द्वारकाप्रसाद मिश्र की काव्य मनोवृत्तियों में भी बहुत कुछ समानता है। दोनों ने अपने समय की आवश्यकता को अनुभव कर लोकरंजन-काव्य की सृष्टि की है– दोनों के सामने राष्ट्र की सामाजिक, धार्मिक, और राजनीतिक, दुरवस्था का प्रश्न रहा है। 'तुलसी' ने रामायण के द्वारा राजनीति में 'रामराज्य' का, धर्म में सर्व धर्म समन्वय का और समाज में उदार वर्णाश्रम का आदर्श प्रस्तुत किया। 'कृष्णायन' में आज की स्थिति के अनुरूप राजनीति में 'साम दाम-दंड-भेद' के मार्ग से साध्य की साधना, समाज और धर्म में समन्वय और सामञ्जस्य की स्थापना तथा अप्रकृत रूढ़ियों के निषेध का संकेत है। जीवन के प्रति जीवटमय आशावादिता का दृष्टिकोण है। ईशावास्योपनिषत् की शिक्षा के अनुसार जीवन का पूर्ण रूप से 'उपभोग' कर यशस्वी बनने की प्रेरणा है। 'लोकरंजन' की भावना की समानता के अतिरिक्त 'भावन' को व्यक्त करने की शैली में भी समानता है। सत्रहवीं शताब्दी में ब्रजभाषा काव्यभाषा थी पर तुलसी ने 'अवधी' को जनकण्ठ में भरने का उपक्रम किया।

बीसवीं शताब्दी में आज खड़ी बोली काव्य-भाषा है पर मिश्रजी तुलसी के समान ही 'अवधी' को जन-मन रंजन का साधन बनाना चाहते हैं। दोनों अपने समय की काव्य भाषा से अपरिचित नहीं हैं। तुलसी ने ब्रजभाषा में मधुर काव्य की रचना की है, मिश्रजी ने भी खड़ी बोली में कुछ पद्य रचना की है। पर दोनों ने अवधी भाषा को भिन्न भिन्न कारणों से चुना। तुलसी ने अपने समय में 'अवधी' को प्रबंध के लिए उपयुक्त समझा क्योंकि उनके पूर्व जायसी आदि कवि 'अवधी' को प्रबंध के लिए पर्याप्त रूप से परिष्कृत कर चुके थे। 'ब्रज भाषा' में कोई प्रबन्ध-काव्य' प्रस्तुत न था। मिश्रजी ने 'अवधी' को इस लिए चुना कि तुलसी की रामायण के 'छन्द' समस्त भारत में प्रचलित हैं। अतः लोक रंजनकारी संदेश उसी प्रचलित भाषा और शैली में कहना अधिक मनोवैज्ञानिक होगा। साथ ही उसके संबन्ध में कोई 'विवाद' भी नहीं है।

'कृष्णायन' में तुलसी की भाषा और शैली के होते हुए भी 'तुलसी' की भाव-धारा का कुछ भी नहीं है, जहाँ उसमें 'सूर' की भाषा-शैली का कुछ भी न रहते हुए उनकी 'भाव-धारा' की यत्र तत्र सरसता अवश्य है।

'कृष्णायन' का जो एकदम आकर्षित करने वाला गुण है वह है उसकी 'भाषा'। वह इतनी मंजी और गढ़ी हुई है कि हम उसे एकदम 'टकसाली' कह सकते हैं।

यह सत्य है कि उसकी अवधी तुलसी के पूर्ववर्ती प्रबन्ध कवि 'जायसी' के समान ठेठ नहीं है, संस्कृत प्रचुर है पर मानस की भाषा भी जायसी के समान ठेठ कहां है ? इसका कारण यह है कि मानस और कृष्णायन के कवियों ने संस्कृत के नाना पुराण, निगमादिक का अधिक चिन्तन मनन किया है अतः उसके भाषा आदि वैभव का सस्कार स्वभावतः उनके ग्रन्थो पर पड़ा है। साथ ही दोनो का लक्ष्य बहु समाज तक अपने विचारो को पहुँचाना रहा है। यह कार्य प्रान्तीय ठेठ अवधी की अपेक्षा संस्कृतनिष्ठ अवधी द्वारा ही सम्पन्न हो सकता था क्योंकि देश का बहु भाग संस्कृतोद्भूत आर्य भाषा भाषी है। सस्कृतनिष्ठ अवधी में कारक और क्रियापद रूपों को समझ लेने से ही भाषा ग्राह्य हो जाती है। कहीं कहीं तो दोनों कवियों ने क्रियापद के रूप भी सस्कृत मय रखे हैं। राम चरित मानस ने अवधी को उत्तर भारत के सात-आठ करोड़ अवधी भाषा भाषियों तक ही सीमित नहीं रखा उसने देश भर के समस्त राम भक्तों तक उसे पहुँचा दिया है। हमारा विश्वास है समय आने पर कृष्णायन की सस्कृत निष्ठ भाषा उसके प्रचार में साधन सिद्ध होगी।

यह कुतूहल की बात है कि लगभग एक हज़ार पृष्ठ के कृष्णचरित्र को केवल दोहा, चौपाई और सोरठा नामक तीन छन्दो में ही चित्रित कर दिया गया है। पर कवि की शब्द-योजना इतनी अधिक गठित और भावानुकूल है कि इन छन्दो में हो अन्य छन्दों की ध्वनि निकलने लगती है। चौपाई में लोरी-ध्वनिका एक उदाहरण देखिये:—

"सोवहु सोवहु चिर दुख मोचन
सोवहु सोवहु अम्बुज लोचन
सोवहु सोवहु वदन सुधाधर
सोवहु नखशिख मृदुल मनोहर
आऊरी निदिया कान्ह बोलावहि
काहे न निदिया आय सोवावहि।"

इसी प्रकार 'रासलीला' में जयदेव की मधुर गीति शैली ध्वनित हुई है:

कबरी शिथिल सुमन झरि लागी
वदन कमल कच अलि अनुरागी
लहरत वसन उड़त उर अंचल
अनुहरि हरिहिं विलोल द्रगंचल
दरकत कंचुकि तरकत माला
झलकत आनन श्रम कण जाला।

नील पीतपट लट मुकुट कुंडल श्रुति तार्टक
अरुझत एकहि एक मिलि राधा-माधव अंक।

एक ही छंद में अन्य छन्दों की व्यजना कवि के भाषा पर पूर्ण अधिकार हुए बिना सम्भव नहीं है। निराला को छोड़ कर हिन्दी के और किसी आधुनिक कवि में यह कला पाई जाती है इसका मुझे ज्ञान नहीं है। यह स्पष्ट है, विभिन्न छन्द-ध्वनि के कारण 'कृष्णायन' में मोनोटनी (ऊब) नहीं आने पाई है।

यह पहिले कहा जा चुका है कि इस ग्रन्थ में भारतीयता के उदात्त संस्कारो को जागृत करने की निश्चित योजना है। भारतीयों के हृदय से भय कायरता, ध्येय-विहीनता, चांचल्य अश्रद्धा आदि घातक मनोविकारों को दूर हटाने की प्रेरणा है। यही कारण है कि कवि का मन शौर्यपूर्ण कर्मों पर अधिक उल्लसित हुआ है; उसमें स्त्रैण श्रृंगारमय कृष्ण काव्य परम्परा की ओर तनिक भी रुझान नहीं है। जहां कहीं श्रृंगार की अवतारणा हुई भी है वहाँ संयम का माधुर्य ही झलका है। करुण प्रसंगो पर भी कवि के नेत्र सजल हो उठे हैं। अभिमन्यु की बालमृत्यु पर रनिवास का रुदन और उसमें उत्तरा का स्वर सुनने का किसमें सामर्थ्य है ?

अवरोहण कांड में मृत सुत के जन्म लेने पर मत्स्य सुता की वेदना की सघनता निम्न दो पंक्तियों में ही व्यक्त हो गई है:—

"रहित मूक क्रन्दति पुनि कैसे
हूकति चक्रवाकि निशि जैसे।"

'हूकति' शब्द इस चौपाई का प्राण है। हूक रह रह कर ठहर ठहर कर ही उठती है। असहाय नारी की चित्त-विभ्रमता और आत्म-विस्मृतिभय-चीख की प्रतीति कराने वाला इससे उपयुक्त और कौन शब्द हो सकता है ?

कृष्णचरित के अलौकिक होने के कारण कृष्णायन में यत्र तत्र अद्भुत रस भी पाया जाता है। वास्तव वादियों को इसमें आपत्ति हो सकती है। वे पूछ सकते हैं कि कवि ने कृष्ण के अनैसर्गिक चरित्र भाग को अपनाने की क्यों आवश्यकता समझी ? इस सम्बन्ध में ध्वन्या लोककार का कथन है कि कथा के आश्रय ग्रन्थ सिद्ध रस हैं। अतः उनमें वर्णित विषयों में स्वेच्छा से कोई कल्पना नहीं करना चाहिए। रवीन्द्रनाथ लोकप्रचलित विश्वासों के उल्लघन को रस-दोष मानते हैं। प्रसिद्ध आंग्ल समीक्षक ब्रेडले ने भी इसी मत का समर्थन किया है। अतः कृष्ण के अलौकिक चरित्र को अपना कर कृष्णायन कार ने जन-श्रद्धा की रक्षा की है और काव्य-रस की भी। जयकांड में युद्ध-वर्णन के कई प्रसंगों पर रौद्र, भयानक और वीभत्स रस की साथ ही प्रतीति होती है।

"पंकिल महि शोणित बसा, अस्थि केश अंबार
सुख जीवत निष्प्राण भर आहत हाहाकार।
शीर्ण शीश कोउ परिघाघाता
कोई विदीर्णित गदा-निपाता
परशु छिन्न कोइ अँग प्रत्यंगा
मर्दित कोई रथ तुरग मतंगा

बाणबिद्ध कोइ निहित शरीरा
घूर्णित लोचन व्यथा अधीरा
उठि उठि व्याकुल गिरत अभागी
याचक मृत्यु मिलत नहीं माँगी।

कोउ निरायुध रहित परिच्छद
अबहुँ क्रोध उर दष्ट रदच्छद
बद्ध मुष्टि युग तीव्र उसासा
निन्दित विधिहिं लखत आकाशा
कोइ अधोमुख कर पद विरहित
श्वसत मुमूर्ष रक्त निज मज्जित
उड़त श्येन बहु घेरि शव गिद्ध काक मँड़रात
धावत श्वान शृगाल लरि कीर्ण अर्ध मृत खात।"

यद्यपि "सूरदास पद-ज्योति सहारे" कवि ने सारे बालचरित्र का वर्णन किया है तोभी यहां-वहां उसकी प्रसंगानुरूप उद्भावना आल्हाददायक है। कृष्ण के यशोदा के प्रति प्रेषित सन्देश में बाल सुलभ सारल्य देखिये। :

"कहेउ कान्ह सुन मइया मोरी, निशिदिन मोंहि आवति सुधि तोरी।
मथुरा वासिन करि चतुराई,
मोहि पहरुआ दीन्ह बनाई
नित प्रति असुर पुरी चढ़ि आवहिं,
शिशु विलोकि मोंहिं मारण धावहिं।
सुमिरि तोहिं जब काहुं लराई,
निमिष माहिं अरि जात पराई"

कृष्ण ने कहा कि असुरों को नष्ट कर मैं मइया तेरे पास शीघ्र ही दौड़ कर आऊंगा। पर :

"जब लगि लकुटी कमरी मोरी, धरेउ संति भँवरा चकडोरी।
राखेउ मुरली कतहुं लुकाई ल जनि राधा जाय चुराई ॥"

यशोदा के निम्न संदेश में कितनी गहन वत्सलता और करुणा निहित है :-

"कहेउ बहुरि श्यामहु ते जायी आय वदन विधु जाय देखायी
जेतिक चहहिं खांहि हरि माटी, अब नहिं कबउं छुअउं कर साँटी
मनमाने गृह भाजन फोरी, जेतिक चहहिं करहि हरि चोरी।
अब नहिं ऊखल बंधिहै मइया, कहिहो पुनि न चरावन गइया ॥

देवकी कृष्ण के युद्ध के पश्चात द्वारका लौटने पर स्नेह से भर जाती है।

धाय देवकिहु गोदे उठाये, राखि सुचिर उर प्राण जुड़ाये।
खोजति रण व्रण वत्स शरीरा, हौरे परसि हरित जनु पीरा ॥"

हास्य रस का हल्का छींटा वहां मिलता है जहां यशोदा कृष्ण की कालिया-नाग-वध कथा सुन कर कहती है :

"हँसी यशोमति सुनि कथा, हँसे सकल व्रजलोग
कहत कान्ह तुव कुन्डलो परेऊ भूठ कर योग।"

अलंकार-योजना :—अलंकारों में रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा, उल्लेख, परिसंख्या संदेह आदि का अधिक समावेश है। सांग रूपक बांधने में कविने अच्छा कौशल प्रदर्शित किया है। यहां एक ही ऐसा रूपक उदाहरण स्वरूप दिया जाता है :

"त्यागत व्रज व्रजराज अधीरा होत विमुख बरसे दृगनीरा।
छायेउ दुर्दिन सहसा स्यन्दन, श्यामल नवल शरीर सजलघन।
चन्द्रक केश कलाप ललामा, सुरपति चाप उदित अभिरामा।
जल कण छलकि कपोलन छाये, पाटल पावस विन्दु सोहाये।
विलसत वर वक्षस्थल हारा, मौक्तिक उज्वल पावस-धारा ॥
स्यंदन घर्घर गर्जन घोरा, भ्रान्त मत्त नर्तत पथ मोरा

रथ गति दोलित केशव पासा, शोभित हलधर तड़ित विलास.
सारथि सुफलक सुवन प्रभंजन बाजि वेग हरि वारिद वाहन
धावत प्रलय पयोधि घृत दुर्दिन स्यंदन रूप,
उद्वेलित बोरन चहत द्वीप कंस यदुभूप।"

हरि-बलराम को लेजाने वाला रथ वर्षा रूप बन कर दौड़ रहा है। शब्द-योजना-चातुर्य से कानों में सचमुच बादलों की गड़गड़ाहट भर जाती है। मुनि-आश्रम वर्णन में परिसंख्या अलंकार की प्रचुरता है:—

"सरसत्ति निन सर्वत्र मृदुलता, तजि कुशाग्र नहिं कतहुँ तीक्ष्णता।
प्रणय-सूत्र जुरि चटकत नाहीं, चटकनि केवल कलियन माहीं।"

उत्प्रेक्षाओं की संख्या अत्यधिक है। श्री कृष्ण बलराम को वसुदेव अपनी बहिन को, सांदीपन ऋषि के आश्रम में शिक्षा दिलाने के लिए सौंप रहे हैं। उस समय उन्हें कितनी पीड़ा हो रही है, यह निम्न उत्प्रेक्षा से साकार हो जाती है :–

"सौंपे सुत जनु कादिहग भगनिहि शौरि गँभीर।"

जनता का जय-शब्द प्रक्षागार में किस प्रकार निनादित हुआ उसे उपयुक्त उत्प्रेक्षा द्वारा प्रत्यक्ष किया गया है:

"गूंजेउ सहसा प्रेक्षागारा जनु गिरि फोरि बही सरि-धारा,"

कर्ण अपने जन्म वृत्त का उल्लेख पितामह से सुन कर लज्जित हो जाता है और :

"करत महीतल पुनि पुनि रेखा
छेकन चहत मनहुँ विधि लेखा।"

कविने उत्प्रेक्षा से कर्ण की मानसिक उथल पुथल का प्रकृत चित्र खींच दिया है। अन्य अलंकारों का विवेचन स्थल-संकोच से नहीं किया जा रहा है।

वस्तुवर्णन:— वस्तु वर्णन के दो अंग होते हैं। एक में मानव जगत का समावेश होता है और दूसरे में विश्व प्रकृति का। कृष्णायन में इन दोनों अंगों का वर्णन मूर्त विधान के रूप में हुआ है। कृष्ण, गोपिका, राधा, मित्रविन्दा, भीम अर्जुन आदि के रूप-वर्णनों में स्थिति अनुरूपता है। यौवन अमृत छलकाती हुई मित्रविन्दा चली जा रही है। उसके प्रकृत श्रृंगार को देखिये: —

"कनक लता तनु यष्टि सोहाई, आनन शरद इन्दु छवि छाई।
नयन विशाल भ्रमत लखि श्रवणन, अंजन रज्जुबद्ध जनु खंजन।
चितवति तरल विलोचन जेही, मज्जति सुधा उदधि जनु तेही।
परसति पद प्रवाल जहँ वामा, झरत सहस सरसिज तेहि ठामा।
उड़त बसन अँग गवनति कामिनि, औचक दमकि जाति जनु दामिनि।

कृष्ण की जन-मन को युग युग से मोहित करने वाली छवि के दर्शन कीजिये :

"मोर मुकुट पट पीत धृत, वन माला अभिराम
वादत वंशी धर अधर, कोटि काम छवि श्याम।"

युद्धभूमि में अभिमन्यु के रौद्ररस पूर्ण रूप का करूणोत्पादक चित्र है:

"कमल नयन श्यामल वदन, काया शाल प्रमाण।
चक्रपाणि शोभित कुंअर, मनहुं प्रकट भगवान।

शोभित स्रवत सिक्त तनु त्राणा
नख शिख अरुण सुतनु परिधाना
पुलकित सकल राम जनु प्रासा
भृकुटि कुटिल जनु यम अधिवासा
दृगन अनल श्वासोष्ण प्रवाहा
धरणि प्रदीपत जनु दग्दाहा
दमकत दक्षिण हस्त रथांगा
समुदित मनहु प्रताप पतंगा
क्षुभित सवेग द्रोण दिशि धाये
कुन्तल लहरि भाल लहराये।"

"कुन्तल लहरि भाल लहराये" में बेमेल-युद्ध के संकेत के साथ कितनी करुण व्यंजना है! 'भीम' के वर्णन में शब्दों का भीमनाद सुन पड़ता है :—

"महिधर शृंग शरीर विराटा, उत्तमांग पृथु तुंग ललाटा
वक्ष शैल हिम शिला विशाला, उत्थित वाम हस्त तरु शाला
कर दक्षिण पट कोण भयंकर, गदा उदग्र अशनि प्रलयंकर।"

विश्व प्रकृति वर्णन में कृष्णायण का कवि अपने आदर्श कवि तुलसी की अपेक्षा अधिक सजग है। पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य की भूमिका में लिखते हैं, "मानव प्रकृतिका ज्ञान तुलसी दास से अधिक उस युग में किसी को नहीं था पर यह एक आश्चर्य की बात है कि उन्होंने विश्व प्रकृति को अपने काव्य में कोई स्थान नहीं दिया।" तुलसी की प्रकृति के प्रति निरपेक्ष वृत्ति में द्विवेदी जी को भले ही आश्चर्य दिये पर मुझे उसमें कोई आश्चर्य नहीं जान पड़ता। तुलसी की भक्ति-भावना केवल अपने राम के चारों ओर ही मंडराती रही है, उससे बहिर्मुख होकर बाह्य सृष्टि के सौन्दर्य को जी भर देखने का अवकाश कहां था? कृष्णायन में प्रकृति-वर्णन विस्तृत और सजीव है अवतरण काण्ड में वृन्दावन-भूमि आदि का वर्णन है पर उसमें वह 'सूर' के पद-ज्योति की छाया से बहुतदूर नहीं है। मथुरा से अवन्तिका के मार्ग के सृष्टि-सौन्दर्य-वर्णन में कवि की अपनी शक्ति का अच्छा परिचय मिलता है। वहां :

"थल थल नव नव प्रकृति स्वरूपा
पल पल धरित वेश अनुरूपा।"

अत: कवि किस स्थल के किस रूप को ग्रहण करे और किसे छोड़ दे? रात के समय जिसने वन पशु संकुल सघन वन में यात्रा की होगी वह निम्न वर्णनों की यथार्थता अनुभव कर सकता है:—

"बढ़ी त्रियामा जस जस प्रति क्षण
सुप्त ग्राम पुर जागेउ कानन
नाना शब्द स्वरन वन धावा
कहुं मृदु रव कहुं भीम विरावा
निकसे श्वापद अगणित जाती
शूकर शरभ महिष मृग पांती"

सिंहनाद सुनकर बन में किस प्रकार खलबल मच जाती है, इसका भी कवि ने सजीव चित्रण किया है। चन्द्रोदय के एक दृश्य में सारी प्रकृति सिहर उठी है :

"तजि प्राची दिशि कन्दरा, केशर किरण पसारि।
प्रकटेउ इन्दु मृगेन्द्र जनु, वारण तिमिर बिदारि॥
दर्शित प्रथम व्योम अरुणाई जनु वधु रोहिणि अधर ललाई।
उदित पाडु द्युति पुनि मनहारी, कुल कामिनि कपोल अनुहारी।
क्रमशः प्रकटित सितकर रूपा, विशद नवल वधु हास स्वरूपा
शोभित धवल सुधा निष्यंदा, सिहरी निखिल प्रकृति सानन्दा॥"

शरदागम में जब रात रानी मधु का घट लेकर क्षितिज से उतरती है तब कृष्ण के अधरों पर वेणु की स्वर-लहरी का बरबस आह्वान हो जाता है। उस मधुमयी यामिनी को कवि ने यमुना-पुलिन पर इस रूप में अवतीर्ण किया है मानों कोई सुर कामिनी हो। (प्रकृति में मानवीकरण की पद्धति आधुनिक काव्य की देन नहीं है पहिले पहल पाणिनी में पत्थर के रोने का उल्लेख मिलता है।)

विलसित व्योम विमल विधु आनन,
कुन्चित अलक श्याम शशि लांछन
पुलकित कौमुदि अमल दुकूला
तारक अवलि विभूषण फूला
बधुक अरुण अधर अभिरामा
कलिका कुन्द दशन द्युति धामा
कैरव कुन्डल श्रवणन धारे
नवल मल्लिका चिकुर सँवारे
हंसमुखर नूपुर स्वर गावति
अलि ध्वनि किंकिणि वाद्य बजावति।"

रजनी के इस मादक रूप को देख कर हरि के हृदय में रास का हुलास जाग उठता है। कवि के समुद्र-तल-वर्णन में भी एक नवीनता है। उसमें

आधुनिक वैज्ञानिक खोज का ग्रहण प्रतीत होता है। इनके अतिरिक्त मथुरा, द्वारका सन्दीपन मुनि को आश्रम तथा विभिन्न समाभवनों आदि के दृश्य भी मनोहर हैं।

चरित्राङ्कयन

'काव्य' में चरित्र-चित्रण पर आजकल पाश्चात्य आलोचना-पद्धति को ध्यान में रखकर विशेष जोर दिया जाता है। महाकाव्य में प्रबन्धत्व होने से पात्रों की सृष्टि होती है और उनके आचरण भी होते हैं— आचार-विचार भी! अतएव उनके 'चित्रण' पर थोड़ी बहुत दृष्टि डालना अप्रस्तुत नहीं है पर मेरा विचार है कि काव्य में चरित्र-चित्रण पर विशेष खींचतान आवश्यक नहीं है— महाकाव्य में तो बिलकुल नहीं। क्योंकि उसमें कई चरित्र मानव की सीमा को लाँघ जाते हैं। अमानव पात्रों के 'आचारों' की मानव की परिमितताओं की कसौटी पर कैसे कसा जा सकता है?

'कृष्णायन' में कृष्ण के चरित्र को देखने के लिए कवि ने पाठकों को अपनी ओर से कोई खास 'दृष्टि' नहीं प्रदान की। उन्होंने उन्हीं पर छोड़ दिया है कि वे "जाकी होय भावना जैसी। प्रभु मूरत देखें वे तैसी।"

स्थल-स्थल पर कृष्ण के मुख से तुलसी के समान उन्हें भगवान विष्णु का अवतार कहला कर उन्होंने हमारी स्थिति अधिक विषम बना दी है। पर एक स्थल पर कृष्ण ने यह भी कहा है—

> "जन्म साथ पुनि मृत्यु विधाना।"
> "मर्त्य रूप मैं महि अवतारी।
> नहिं अमरत्व कृष्ण अधिकारी।"

इससे हम उनकी बार-बार विष्णु अवतारी होने की घोषणाओं को पृथक् रख कर उन्हें एक महान पुरुष (और प्रत्येक महान पुरुष 'ईश्वर' के बहु अंश को लेकर अवतीर्ण होता ही है।) के रूप में स्वीकार कर सकते हैं; जिन्होंने कभी अपने को लघुभावना से आक्रान्त नहीं होने दिया। कृष्णायन का कृष्ण-चरित्र एक तेजस्वी, वीर्यवान पुरुष का चित्र है। जिस पर प्रेम होता है, जिससे ईर्ष्या होती है, जो भयभीत बनाता है और अपनी भव्यता से हमें नत मस्तक कर देता है, श्रद्धा और भक्ति से हम कवि जयदेव के साथ कह उठते हैं— "जय जगदीश हरे!"

स्त्री- पात्रों में राधिका, द्रौपदी, अवन्ती-सम्राज्ञी और सत्यभामा का चरित्राङ्कन अच्छा हुआ है।

सत्यभामा इन्द्राणी के अपमान को क्षमा नहीं कर सकी।

सबसे लुभावना चित्र 'राधा रानी' का है। 'राधा' को काव्य में प्रवेश कराने वाले प्रथम कवि जयदेव थे। उन्होंने उनमें 'परकीया' का आरोप कर 'मधुर रस' की अजस्र माधुरी बहाई है, इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं। स्वकीया के प्रति 'राग' का उन्मेष प्रबल नहीं होने पाता। विद्यापति ने भी जयदेव का अनुकरण किया है। उनका राधिका का विरह-वर्णन हृदय-स्पर्शी है।

'ई भर बादर माह भादर, शून्य मन्दिर है भोर' में विरहिणी ने न कहने योग्य को भी कह दिया है। पर रवि बाबू के शब्दों में 'विद्यापति की राधा में प्रेम की अपेक्षा विलास अधिक है, गंभीरता का अटल स्थैर्य नहीं है; नवानुराग की पागल बना देने वाली लीला है और उसका चांचल्य।"

विद्यापति के बाद के कवियों ने भी वैष्णव कवि-परम्परा के अनुसार 'राधा' के शरीर और शारीरी व्यापारों तक ही अपने को सीमित रखा है। पर कृष्णायन के कवि ने राधा को एक अनुपम रूप प्रदान किया है। वे परकीया दीखने पर भी कृष्ण की पूर्व स्मृति में स्वकीया बनकर ही 'कृष्णायन' में विलस रही हैं। कृष्ण और राधा में शरीर के प्रति आकर्षण नहीं है, उनमें आत्मा की एकता की व्यग्रता प्रतिष्ठित की गई है—

"राधा-माधव-मिलन अनूपा।
हरि राधा; राधा हरि रूपा।"

तभी 'ऐन्द्रजालिक कृष्ण को राधा भी ध्यान से एक बार 'साकार' बना कर उपस्थित कर देती है। राधा की साधना-मूर्ति हम में पूत भावनायें भरती हैं। वह बहुत कम बोलती है, स्थूल रूप में बहुत कम दीख पड़ती है! पर हमारी कल्पनाओं की आंखों के सामने से वह जरा भी ओझल नहीं हो पाती। अपने जनम जनम के साथी को 'औचक' पाकर 'राधा' अपने असीम स्वर्गीय आनंद को भौतिक जिव्हा से कैसे व्यक्त करे?

'सूर' के राधा-विरह वर्णन में पीड़ा बहुत है, 'कृष्णायन' में 'विरह वर्णन' नहीं है, विरह की बहुत गहरी अनुभूति है। एक की पीड़ा में जागृत छटपटाहट है, दूसर में पीड़ा की गहनता से मूर्छना है, प्रलय है और इसी से अभिव्यक्ति-शून्यता है।

मित्रविन्दा कृष्ण को एक बार देख कर ही उनकी छवि को उर में सँवारने लगती है। पर जब अपनी सखी रुक्मिणी को भी हरि में तल्लीन देखती है तो नारी-हृदय पसीज उठता है। वह उनके पथ से हट जाती है और अपनी सखी को उसकी मनोकामना पूर्ण करने में सहयोग देने का आश्वासन भी दे आती

है। मित्रविन्दा जब अपनी माता से यह व्यथा-कथा कहती है तब कितनी उदारता से माता भी अपनी कन्या को सान्त्वना देती है:—"वचन जो सखी संग तुम हारा, पालब पावन धर्म तुम्हारा।" और यह भी व्यंग करती है कि तुम्हारी हरि के प्रति तारा प्रीति मात्र थी :

"चक्षुराग अनुराग न साँचा
नहिं तेहि माहिं सुजन मन राँचा।"

प्रथम दर्शन का आकर्षण बहुधा सच्चा नहीं होता। उसमें प्रेम की नहीं वासना की तीव्रता होती है। कवि ने love at first sight के लिये 'तारा प्रीति' और चक्षुराग शब्दों का अच्छा प्रयोग किया है इनमें भाव-संहति के साथ टकसालीपन भी है।

स्त्री-चरित्रों में द्रौपदी की कष्ट-सहिष्णुता और उसकी ओजस्विनी मुद्रा काव्य को कम सप्राण नहीं बना रही है। द्रौपदी दुर्योधन के दुर्विनय को क्षमा नहीं कर सकी। भरी सभा में :

"द्रुपद कुमारि केश छिटकाई,
कीन्ह महा प्रण सबहि सुनाई
खल भुज भंजन रक्त बिनु, बंधिहौं नहि ये बार
जे पति राखी आजु मम, सोई प्रण राखनहार।"

द्रौपदी के इस उष्ण प्रण में महाभारत की भूमिका अन्तर्हित है। द्रौपदी चुभता हुआ व्यंग करने में बड़ी पटु है। धृतराष्ट्र ने राज सभा में कृष्ण को प्रच्छन्न रूप से द्रौपदी की लाज बचाते देख कर मन में तनिक भय अनुभव किया। अत: सभा में उसे निकट बुलाकर मन वांछित वरदान मांगने का आग्रह किया। उसने अपने पतियों की मुक्ति का वरदान माँग लिया। इसके बाद :

"औरहु मागु कहिउ जब राऊ,
बोली विहँसि न जात स्वभाऊ।
मोहि न तात माँगन अभ्यासा,
माँगेऊ रहे स्वामि जब दासा।
अब सायुध सुर राज सम, स्वामी मम स्वाधीन,
सकत मोहि दै जीति जग, अब न द्रौपदी दीन।"

कृष्णायन में संवाद-चातुर्य खूब पाया जाता है। इस क्षेत्र में केशव ही अभी तक अद्वितीय रहे हैं पर मिश्रजी ने इस क्षेत्र में बहुतों को पीछे छोड़ दिया है। पात्रों का पूर्ण विवेचन यहां संभव नहीं है। कृष्ण के सम्बन्ध में कहा जा चुका है कि वे हमारे सम्मुख अवतारी महापुरुष के रूप में अति मानव बन कर आते हैं जो जन्मते ही यह जानते हैं कि मुझे इस भू को असुर विहीन कर भार

'हरण करना है।' उनके कार्य निश्चित पूर्व योजना के परिणाम होते हैं। नर-लीला करते समय उन्होंने जो लोकोद्धारक और गोपीजन वल्लभ रूप धारण किये हैं, कवि ने उनमें से प्रथम रूप को दूसरे की अपेक्षा अधिक ग्रहण किया है। इसीसे कृष्णायन को हमने शक्ति काव्य कहा है। अन्तिम कांड में भारतीय दर्शनों की सुन्दर व्याख्या की गई है। हमारे आचार्यों ने अपने मतों-सिद्धान्तों-को प्रस्थान त्रयी अर्थात् उपनिषद्, ब्रह्म सूत्र और गीता पर प्रतिष्ठित किया है। पर पुष्ट मार्गियो ने भागवत को व्यास महाराज की समाधि भाषा मानने के कारण उसका भी समावेश कर लिया है। उपनिषदों का उद्देश्य चरम एकत्व के आविष्कार की चेष्टा है और बहुत्व के भीतर एकत्व की खोज ही सच्चा ज्ञान है। कृष्णायन में विभिन्न मतों का समन्वय कर यही कहा गया है :

" मम मत समदर्शी मति जिनकी
सकत जे बहु महँ एक विलोकी
हरिवंशी तेइ भारतवासी
नृपति प्रजा अथवा संन्यासी। "

कवि ने बड़ी आस्था के साथ विश्वास दिलाया है कि संसार में नानावाद और नाना ज्ञान- विज्ञान हैं! अतएव बिना प्रभु के मार्ग-दर्शन के भव का अवसाद नहीं मिटता। एक वाक्य में कृष्णायन के सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि यह भारत का जीवन-दर्शन है जिसमें उसका समस्त भाव और ज्ञान-वैभव पुंजीभूत है। राजेन्द्र बाबूने इसे युग प्रवर्तक और मानस की भांति घर घर में प्रवेश पाने की शक्ति रखने वाला तथा प्रयाग विश्व विद्यालय के प्राध्यापक द्वय डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा एवं डा० बाबूराम सक्सेना ने मानस की टक्कर का काव्य कहा है। पं. हजारिप्रसाद द्विवेदी ने भी कहा है "राम चरित मानस के बाद अवधी भाषा में ऐसा मनोहर काव्य नहीं लिखा गया।" हमारा विश्वास है, भारतीय संस्कृति के इस पुनरुत्थान काल में कृष्णायन से जनता को अपूर्व बल आत्म-विश्वास तथा युगानुरूप आचरण करने की प्रेरणा प्राप्त होगी।

'रत्नाकर' का 'उद्धवशतक' :३०:

स्वर्गीय बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' आधुनिक युग में ब्रजभाषा के बड़े शक्तिशाली कवि हुए हैं। काशी में जन्म लेने पर भी इन्होंने वृन्दावन के गीत गाये हैं। हरिश्चन्द्र-काल में अवतरित होने के कारण इनमें स्वभावत: रीति-कालीन कवियों की परिपाटी का क्रम पाया जाता है, परन्तु जैसा कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत है "इनकी कविता बड़े बड़े पुराने कवियों के टक्कर की होती थी और भाषा भी पुराने कवियों की भाषा से चुस्त और गठी हुई होती थी।" इसका कारण यह है कि इन्होंने ब्रजभाषा-साहित्य का अध्ययन और मनन बड़ी गंभीरता के साथ किया था। अपने कविता-काल में इन्होंने अनेक फुटकर रचनाओं के अतिरिक्त हरिश्चन्द्र, गंगावतरण और उद्धवशतक नामक तीन प्रबन्ध-मुक्तक-काव्यों की सृष्टि की है। यहाँ केवल उद्धव-शतक पर ही विचार किया जा रहा है।

उद्धव-शतक एकसौ सत्रह घनाक्षरी कवित्त छंद का प्रबन्धात्मक मुक्तक काव्य है। यद्यपि समस्त कवित्तों में एक कथा निहित है, तो भी प्रत्येक कवित्त अपनी भाव व्यजना में पूर्ण है। इसकी कथा में कोई नवीनता नहीं है। यह प्राचीन भँवरगीत-परम्परा का काव्य है, जिसकी कथावस्तु श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध से ली गई है।

श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण अपने अनन्य भक्त तथा प्रेम पात्र उद्धव को एकान्त में ले जाकर कहते हैं— "मित्र! ब्रज में जाओ और हमारे माता-पिता को हमारा कुशल-समाचार सुनाकर प्रसन्न करो। मेरे वियोग में गोपियाँ व्याकुल और व्यथित हो रही होंगी; उनको भी मेरी ओर से धैर्य बँधाओ। वे अपना तन-मन मुझ पर निछावर कर चुकी हैं। तुम मेरा सन्देश सुनाकर उनका दुख हटाओ। वे मेरा स्मरण कर करके विरह-व्यथा के मारे व्याकुल और बेसुध हो जाती हैं; उनको मुझसे अधिक प्रिय और कुछ नहीं है। मैं शीघ्र लौट आने का उन्हें वचन दे आया था; उसी आशा पर वे जीवित हैं।" "श्रीकृष्ण का सन्देश लेकर उद्धव सूर्यास्त के समय गोकुल पहुँचते हैं और नन्द के गृह जाते हैं, जहाँ नंद और यशोदा बहुत रात तक श्रीकृष्ण के चरित्र और लीलाओं का वर्णन करते रहते हैं। यशोदा भी बीच बीच में प्रेमाश्रु

बहाती जाती है। उद्धव दोनों के कृष्ण-प्रेम की प्रगाढ़ता देखकर मुग्ध हो जाते हैं और उन्हें समझाते हैं कि कृष्ण जड़-चेतनमय विश्व के आदि कारण हैं– नारायण हैं, भूभार-हरण के लिये उन्होंने देह धारण किया है। आप इनकी भक्ति करते रहे हैं, इसलिये कृतकृत्य हो गये हैं। श्रीकृष्ण ने कंस को मारने के बाद यहां आकर जो आपसे मिलने की प्रतिज्ञा की थी, उसे वे भूले नहीं हैं। आप खिन्न न हों, वे शीघ्र आपसे मिलेंगे।' "उद्धव नंद यशोदा के यहाँ ही रातभर बातें करते रहे। प्रातःकाल नंद के गृह सुनहले रथ को देख कर उत्सुकता भरी गोपिकाओं ने वहां जाकर उद्धव को घेर लिया। जब उन्हें पता चला कि वे कृष्ण का संदेशा लेकर आये हैं तब वे उन्हें एकान्त में बुला ले गईं और उनका स्वागत सत्कार कर उनसे पूछने लगीं कि कृष्ण ने यशोदा और नंदबाबा का कुशल-समाचार लाने को भेजा होगा, उनके अतिरिक्त कृष्ण का यहां और कौन है, सगे सम्बंधियों के अतिरिक्त दूसरों के साथ मतलब से ही स्नेह सम्बन्ध जोड़ा जाता है।" गोपियां मन-वचन-कर्म से कृष्ण में लीन थीं। वे कृष्ण के दूत को पाकर कहने न कहने योग्य सभी बातें कह गईं। श्रीकृष्ण-समागम के चिंतन में मग्न एक गोपी ने पास ही भँवरे को गुनगुनाते देखा तो वह उसे प्रिय का दूत समझ कर कहने लगी कि कपटी का मित्र होने से तू बड़ा धूर्त है। मेरे पैरों को मत छू क्योंकि सौतो के कुचों से मसली हुई श्रीकृष्ण की वनमाला का कुंकुम तेरी मूछों में लगा हुआ है। धूर्तों की आपस में खूब पटती है......इस प्रकार भँवरे कोलक्ष्य कर गोपिकाओं ने कृष्ण के पूर्व अवतारों की कथा का स्मरण करके भी खूब उपालम्भ दिये। भँवरे के कुछ दूर उड़ कर फिर लौट आने पर एक गोपी ने उसे प्राण-वल्लभ का दूत मान कर दुलराना चाहा और उससे पूछा क्या "कृष्ण को हम दासियो की भी याद आती है?" गोपियो को कृष्ण-दर्शन के लिये अत्यंत व्याकुल देख कर उद्धव ने कृष्ण के प्रेममय संदेश द्वारा उन्हें ढाढस बँधाया!– "आप का मन भगवान वासुदेव मे लीन हो चुका है। इसलिये आप कृतकृत्य हो गई। भगवान ने कहा है कि आत्मरूप से मैं सबमे व्याप्त हूं; तुम्हारा अत्यंत प्रेम पात्र होता हुआ भी मैं तुमसे दूर इसलिये रहता हूँ कि जिसमें तुम लोग मेरा ध्यान भली–भांति करती रहो और वह ध्यान मन की एकाग्रता से ही सिद्ध होता है। प्रियतम के दूर रहने पर स्त्रियाँ उसके ध्यान में जैसी तल्लीन रहती हैं वैसी उसके समीप रहने पर नहीं रहती। इसी प्रकार तुम लोग अपने मन को सब ओर से हटाकर पूर्णतया मुझ में लगाकर मेरा चिंतन करती रहोगी तो शीघ्र ही मेरे पास पहुँच जाओगी। शरद्ऋतु की पूर्णिमा की रात को वृन्दावन में मैंने जो रास-लीला की थी, उस में पतियों की ओरसे

बाधा डालने पर जो व्रजांगनाएँ रास के आनंद से वंचित रह गई थीं, उन्होंने मेरे चरितों का चिंतन करते करते शुद्ध हो कर अन्त में मुझ को प्राप्त कर लिया।" इस प्रकार उद्धव के मुख से श्रीकृष्ण का सन्देश सुनकर गोपिकाओं को पुनः उनके चरित्र का स्मरण हो आया और वे भावातुर हो गईं। तब उद्धव ने गोपिकाओं को दुबारा श्रीकृष्ण का सन्देश सुनाया इससे गोपियोंने समझ लिया कि श्रीकृष्ण ही हमारी आत्मा और इन्द्रियों के साक्षी हैं; यह समझ हो जाने पर उनकी विरह-व्यथा दूर हो गई। गोपियों को सान्त्वना देने के लिये उद्धव कुछ समय तक गोकुल ही में रहे। वे गोपियों के प्रेम को देख कर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने गोपियों की वन्दना की और कहने लगे कि 'संसार में इनका जन्म सार्थक हुआ क्योंकि इन का हृदय विश्वात्मा कृष्ण भगवान की भक्ति से ओत-प्रोत है; मेरी यह उत्कट अभिलाषा है कि मैं वृंदावन की पवित्र भूमि में इन व्रजांगनाओं की चरण-रेणु से पवित्र हुई झाड़ियों, लताओं और वृक्षों में से किसी का जन्म पा सकूँ। उद्धव जब मथुरा जाने के लिये रथ पर सवार हो गये तब नंद आदि गोपोंने उन्हें कृष्ण के लिये तरह तरह की भेंटें दीं। उद्धव जब श्रीकृष्ण के पास मथुरा पहुँचे तो उन्होंने उन्हें प्रणाम कर व्रजवासियों की प्रगाढ़ श्रद्धा-भक्ति का ब्योरा कह सुनाया और नंद आदि की दी हुई भेंटें वसुदेव, बलराम और महाराज उग्रसेन को सौंप दीं।"

उद्धव शतक की कथा बहुत छोटी है। श्रीकृष्ण गोपियों के चिन्तन में विकल होते हैं, उद्धव उन्हें ज्ञान का उपदेश देते हैं, श्रीकृष्ण को उससे संतोष नहीं होता। वे उद्धव से निवेदन करते हैं कि यदि उनका उपदेश गोपियों पर प्रभाव डाल सके तो वे पहिले वृन्दावन हो आयें और फिर उनको सान्त्वना प्रदान करें। उद्धव श्रीकृष्ण का पत्र लेकर व्रज को जाते हैं, श्री गोपियों को ज्ञान और योग का उपदेश देते हैं। गोपिकाएं सहज भाव से उपदेशों के प्रति विरक्ति व्यक्त करती हैं और हाव-भाव तथा अनुभावों से कृष्ण के प्रति एकान्त प्रेम दर्शाती हैं। उद्धव की ज्ञान-गरिमा गोपिकाओं के सहज भाव के सामने नष्ट हो जाती हैं और वे स्वयं उन्हीं के रँग में रंग कर मथुरा लौट आते हैं तथा कृष्ण से गोपियों की प्राण-रक्षा के लिये वृन्दावन जाने का आग्रह करते हैं।" यह कथा प्राचीन कवियों की भँवरगीत परम्परा पर ही आश्रित है। सूर और नन्ददास के भँवरगीतों की इसमें पूर्ण छाया है। प्रभाव और कथा-पर्यवसान की दृष्टि से यह नन्ददास के भँवरगीत के अधिक निकट है। नन्ददास की गोपियों में भी स्त्री-सुलभ तर्क का विधान है और अनुभावों के द्वारा उद्धव के हृदय पर प्रभाव अंकित करने का गुण है। उसमें भी उद्धव का ज्ञान रूपी अहंकार गोपिकाओं के प्रेम-प्रवाह में बह जाता है और वे भी व्रज की धूलि को अपने अंग में लगा-

कर, ज्ञानयोगी की अपेक्षा प्रेमयोगी का रूप धारण कर मथुरा लौट आते हैं और श्रीकृष्ण की निष्ठुरता को कोसते हैं। परन्तु उद्धव-शतक में नन्ददास के भँवरगीत की अपेक्षा कतिपय विशेषताएँ हैं।

नन्ददास के भँवरगीत में कृष्ण की आतुरता का प्रदर्शन नहीं है। सूर में कहीं भी कृष्ण गोपियों के वियोग में मूर्छित नहीं चित्रित किये गये। उनमें एकांगी प्रेम का ही साम्राज्य है। उद्धव-शतक में "दोनों ओर प्रेम पलता है।" दूसरी विशेषता यह है कि उद्धव शतक में गोपियाँ उद्धव को कहीं कहीं 'मधुप' तो सम्बोधन करती है परन्तु सूर या नन्ददास के समान उसमें भ्रमर का कहीं प्रवेश नहीं कराया गया है। शेष बातों में यह प्राचीन-परम्परा का ही अनुकरण करता है।

उद्धव-शतक की दार्शनिकता

वल्लभाचार्य के पुष्टि-मार्ग का समर्थन ही इसका लक्ष्य प्रतीत होता है। इसमें उद्धव अद्वैतवाद का प्रतिपादन करते हैं और गोपिकाएँ द्वैतवाद की भूमिका पर स्थित हैं। एकोऽहं द्वितीयो नास्ति (मैं एक हूँ, दो नहीं) सोऽहम (म वही हूँ) सर्व खल्विदं ब्रह्म (यह सब कुछ ब्रह्म है) अद्वैतवाद के प्रसिद्ध नारे हैं जिनका उच्चार उद्धव के मुख से बार बार करवाया गया है। उदाहरणार्थ—

"पाँचौ तत्व माहिं एक सत्व ही की सत्ता सत्य
याही तत्वज्ञान को महत्व स्त्रुति गायौ है।
तुम तौ विवेक रतनाकर कहौ क्यौं पुनि
भेद पंच भौतिक के रूप मैं रचायौ है॥
गोपिनि मैं, आप मैं, वियोग औ सँजोग हूँ मैं
एकै भाव चाहिए सचोप ठहरायौ है।
आपु ही सौं आपुको मिलाप औ बिछोह कहा
मोह यह मिथ्या सुख-दुख सब ठायौ है॥"

"मोह-बस जोहत बिछोह जिय जाको छोहि
सो तौ सब अंतर निरंतर बस्यौ रहै॥"

"पंच तत्व मैं जो सच्चिदानंद की सत्ता सो तौ
हम तुम उन मैं समान ही समोई है।
कहै रतनाकर विभूति पञ्चभूतहूकी
एक ही सी सकल प्रभूतनि मैं पोई है।

माया के प्रपंच ही सौं भासत प्रभेद सबै
काँच-फलकनि ज्यौं अनेक एक सोई है।
देखो भ्रमपटल उघारि ज्ञान-आँखिनि सौं
कान्ह सब ही में कान्ह ही मैं सब कोई है ॥"

ज्ञान की आँखों से तो कृष्ण को देखने का उपदेश उद्धव ने दिया ही है, साथ ही साधन के रूप में योग का भी सहारा किया है—

"अविचल चाहत मिलाप तौ विलाप त्यागि
जोग जुगती करि जुगावौ ज्ञान-धव कौं
जीव आतमा कौं परमातमा मैं लीन करौ
छीन करौ तनकौं न दीन करौ मनकौं ॥"

उद्धव के अद्वैतवाद का प्रत्युत्तर गोपियों ने बहुत सुन्दर तरीके से दिया है।

"जैहै बनि बिगरि न वारिधिता बारिधि की
बूँदता बिलैहै बूँद बिबस विचारी की।"

भक्त अपने अस्तित्व की रक्षा चाहता है और भगवान का सान्निध्य भी। उद्धव से गोपिकाओं के इस तर्क का कोई प्रत्युत्तर नहीं देते बना। उद्धव ने योग की साधना से श्रीकृष्ण के सान्निध्य का जो उपदेश दिया उसका प्रत्युत्तर भी गोपियों ने बड़ी निर्द्वन्द्वता के साथ दिया है:—

"नेम व्रत संजम के पींजरै परे को जब लाज कुल कानि प्रति
बन्धहि निवारि चुकीं।"
"जोग रतनाकर मैं सांसि घूँटि बूड़ै कौन, उधौ! हम सूधौ यह
बानक विचारि चुकीं
मुक्ति मुकता को मोल माल ही कहा है जब, मोहन ललापै
मन मानिक ही वारि चुकीं।"

और भी—

एते बड़े विश्वमाहिं
हेरे हुँ न पैये जाहि
ताहि त्रिकुटी मैं नैन मूँदि
चखि बौ कहौ।"

यह तो तर्क द्वारा उद्धव को परास्त करने का साधन था। गोपिकाओं ने सरल भाव से भी उद्धव को निरुत्तर किया है। वे कहती हैं कि यदि उद्धव कृष्ण को हमारी आँखों से देख लेते तो इस प्रकार ज्ञान और योग

का उपदेश न देते। वे यह भी कहती हैं कि तुम्हारे कहने से हम सब प्रकार की यातनाएं सह लेंगी यदि "ऐतीकहि देव कि वन्है मिली जाइगो।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि उद्धव के उपदेशों में ज्ञान और योग की दार्शनिकता का सविस्तर पुरस्कार है और दूसरी ओर गोपियों के उद्गारों में प्रेम और भक्ति का सहज हृदयहारी निरूपण है। उद्धवशतक की जब हम काव्य-सुषमा पर दृष्टि डालते हैं तो हमें उसमें उक्ति का विशेष चमत्कार दिखाई देता है। उसमें भावपक्ष की अपेक्षा बुद्धिपक्ष की प्रबलता सर्वत्र दृष्टि गोचर होती है। ऐसा शायद ही कोई छंद हो जिसमें कविने कोई चमत्कार न भरा हो। उदाहरण के लिये

> "कुटिल कटारी है, अटारी है उतंग अति
>
> जमुना तरंग है तिहारो सतसंग है।"

उद्धव गोपिकाओं को जब साँस रोक कर प्राणायाम साधने का उपदेश देते हैं, तब गोपिकाओं का उक्तकथन सचमुच व्यंग्य से भरी हुई एक सूक्ति-मात्र है।

कवि ने अपने वैद्यक ज्योतिष और विज्ञान को भी छंदों में भरने का यत्न किया है। स्वर्ण को शुद्ध करने की विधि, पारे से रसायन बनाने का उपाय वैद्यकज्ञान के, भिन्न भिन्न राशियों में भिन्न भिन्न ऋतुओं का आगमन ज्योतिषज्ञान के तथा कांच के टूटे हुए फलकों में एक ही वस्तुका अनेक रूप में दिखलाई देना, दर्पण के निकट खड़े रहने पर प्रतिबिम्ब का ऊपरी सतह पर दर्शित होना और पीछे हटने पर उसका दर्पण के भीतर धँसते जाने का तथ्य भौतिक विज्ञान के परिचय को प्रकट करते हैं।

भाषा

उद्धव-शतक की टकसाली ब्रजभाषा है जिसमें कविने पूरबी शब्दों, जैसे दंद, मस्त आदि का यत्र तत्र समावेश कर दिया है तो भी ब्रजभाषा का मूल सौष्ठव कहीं भी क्षीण नहीं हो पाया है। इसीप्रकार फारसी के प्रचलित शब्दों-सरताज, फरद, आदि को इस तरह ब्रजभाषा में घुला-मिला लिया है कि उनका विदेशीपन जान ही नहीं पड़ता। एक स्थलपर 'बेदाग' शब्द को 'अदाग' रूप दे दिया गया है। इसी प्रकार गहबर, भकुआना आदि शब्द लोकभाषा से साहित्यिक भाषा में आकर सुन्दर अर्थ-व्यंजना का काम देते हैं। एक ही स्थान पर कविने संधि के सहारे "आसाच्छन्न" शब्द को संस्कृत

तत्सम के रूप में रख,कर दुर्बोधता लादी है। और प्रवाह में तनिक व्यवधान उपस्थित कर दिया है। भाषा के सम्बन्ध में हिन्दी के विद्वानों में दो मत पाये जाते हैं। एक मत बाबू मैथिलीशरण गुप्त का अनुयायी है जो विदेशी शब्दों के सर्वथा बहिष्कार का पक्षपाती है, दूसरा मत पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी और हरिश्चंद्र का समर्थन करता है जो संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों के अतिरिक्त देशज और प्रचलित विदेशी शब्दो को भी ग्रहण कर लेना चाहता है। इस संम्बन्ध में प्रयाग-विश्वविद्यालय के प्राध्यापक डॉ. लक्ष्मी-सागर वार्ष्णेय लिखते हैं—"हिंदी का सौंदर्य मेरे विचार से यही है कि उसमें तत्समता की दृष्टि से संस्कृत की सरल शब्दावली के अतिरिक्त तद्भव और देशज शब्दों जन साधारण मे प्रचलित मुहावरो और कहावतों (इस सम्बन्ध में हम ब्रजभाषा से पाठ सीख सकते हैं) और केवल उन्हीं अरबी, फारसी अंग्रेजी शब्दो का प्रयोग हो जो सर्व साधारण की भाषा में घुल मिल गये हैं। यही हिंदी की जातीयता है, यह उसका व्यक्तित्व है, यही उसका सौंदर्य है। इसी की रक्षा हमें करनी चाहिये।" रत्नाकर ने लोकोक्तियो और मुहावरो का भी उद्धव शतक में अच्छा उपयोग किया है—(१)'दिपत दिवाकर कौ दीपक दिखावै कहा (२) "जैहै **तीन तेरह** तिहारी **तीन पांच** है।" (२) **बीस बिसै** ऊधौ बीर बावन कलांच है। (४) प्रेम अरु जोग में जोग **छठें-आठें** पर्‌यौ (५) मधुपुरवारे सब **एकै ढार ढारे** हो (६) कठिन कसाले परे **लाले** परे प्राण के।

इनके अतिरिक्त उद्धवशतक की भाषा में भूतकालिक क्रियायों, कारकों आदि के रूपों में स्थिरता दिखलाई देती है। भूतकालिक क्रिया के तीन रूप मिलते हैं। "लीन, लीन्यौ, लीन्हौ"। रत्नाकर ने एक ही रूप का प्रयोग किया है जिससे ब्रज भाषा के विद्यार्थियों को अध्ययन में सुविधा हो जाती है। छंदों में शब्दों को कहीं ह्रस्व, कहीं दीर्घ पढ़ने की आवश्यकता नहीं पड़ती। यद्यपि कवियों को इस प्रकार की स्वतंत्रता रहती है कि वे किसी शब्द को छंद की सुविधा के लिये ह्रस्व या दीर्घ रूप में लिख सकते हैं परन्तु रत्नाकर ने इस सुविधा का लाभ नहीं उठाया। इसीलिये उनकी भाषा मँजी हुई और टकसाली है। पदयोजना भावानुवर्तिनी है जिससे कई बार संगीत की निर्झरणी प्रवाहित होती है।

अलंकार-योजना

'उद्धव शतक' में अलंकार-योजना सयत्न-साधित है। सांग और निरंग रूपकों की भरमार है। अतिशयोक्ति, वृत्यानुप्रास, यमक, उत्प्रेक्षा, श्लेष पद

पद पर अपनी छटा छहराते हैं। उनके कतिपय उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

अनुप्रास—यह अलंकार अनेक स्थानों में पद्माकर की अनुप्रास-योजना का स्मरण दिलाता है। "हौले-से हले-से हूले हूले से हिये में।"

हाय! हारे-से हरे-से रहे हेरत हिराने-से॥"

यमक"वारनि कितेक तुम्हें वारन कितेक करें
वारन उवारन हौ वारन वनौ नहीं।"

श्लेष— षट्ऋतु वर्णन में कवि ने श्लेष के सहारे ऋतु-चित्रण और वृंदावन वासियों की तदनूरूप अवस्था का वर्णन किया है। शिशिरऋतु के वर्णन में श्लिष्ट शब्द 'माधव' मधुऋतु और कृष्ण दोनों का अर्थ देता है। इसी प्रकार बागिनि शब्द बाड़ियों और बालाओं दोनों अर्थों को व्यक्त करता है। 'एकही अनंग साधि साध सब पूरी अब, और अंग रहित अराध करिहैं कहां ?' में 'अनंग' में श्लेष दर्शनीय है।

विरोधाभास— "बिनु घनश्याम धाम धाम ब्रजमण्डल मैं,
ऊधौ! नित बसति बहार बरसा की है।"

अतिशयोक्ति— "हरि-तन-पानिप के भाजन दृगंचल तैं
उमगि तपन तैं तपाक करि धावै ना।
कहै रतनाकर त्रिलोक ओक मंडल मैं
बेगि ब्रह्मद्रव उपद्रव मचावै ना॥
हर कौं समेत हर-गिरि के गुमान गारि
पल मैं पतालपुरपैठन पठावै ना।
फैलै बरसाने मैं न रावरी कहानी यह
बानी कहूँ राधे आधे कान सुनि पावै ना।

और भी— "सूखि जाति स्याही लेखिनी कै नैंकु डंक लागैं
अंक लागैं कागद बररि बरिजात है॥"

वीप्सा— "वै तो हैं हमारे ही हमारे ही हमारे ही औ
हम उनही की उनही की उनही की हैं॥"

लोकोक्ति— "दिपत दिवाकर को दीपक दिखावैं कहां"

ग्रंथ के प्रथम छन्द में कमल को देख कर राधा की सुधि आने से स्मरण अलंकार भी सध गया है।

रस

'उद्धव-शतक' विप्रलंभ शृंगार का काव्य है, जिसमें गोपियों की विरह-व्यथा का सजल वर्णन है। गोपिकायें के भावों का आश्रय, कृष्ण आलम्बन और उद्धव के कथन तथा व्रज की श्रीकृष्ण से सम्बन्धित वस्तुएँ उद्दीपन विभाव हैं। एक स्थल पर जहां कवि ने कुब्जा के कूबड़ को काटने-छाँटने का वर्णन किया है, वहाँ वीभत्स रस की प्रतीति होती है जो रसाभास है। परन्तु यह कथन गोपिकाओं के द्वारा असूया के रूप में कराया गया है। शृंगार में असूया भी एक संचारी भाव है। इसलिये दोष का परिहार हो जाता है। यहाँ-वहां गोपिकाओंने उद्धव पर मधुर व्यंग भी किये हैं जिनमें हास्य रस की फुहार परिलक्षित होती है।

रत्नाकर को ऊपर भावप्रवण कवि की अपेक्षा सूक्ति प्रिय अधिक कहा गया है। सूक्ति-प्रिय कवि की विशेषता यह होती है कि वह मन को चमत्कृत करने वाली उक्तियों को विभिन्न अलंकारों के सहारे पुरस्सर करता है। उन में व्यक्तियों के हृदय को स्पर्श करने वाला गुण नहीं रहता, मन चमत्कार से चकित हो जाता है। रीतिकाल के श्रेष्ठ कवि बिहारी के अनेक दोहे इसी कोटि के हैं। रत्नाकर ने भी रीतिकालीन कवियों का पथ एकदम विस्मृत नहीं कर दिया है। उनके काव्य में उनकी कलाबाजी पद पद पर परिलक्षित होती है। श्लेष, अतिशयोक्ति, विरोध भास के पदों में सूक्तियों का ही साम्राज्य है। सूक्तियों में कल्पना के सहारे कवि दूर की कौड़ी लाया करता है।

"होते कहूँ क्रूर तो न जाने करते धौं कहा
ऐसो क्रूर करम अक्रूर ह्वै कमायो जो।"

उसमें कविने अक्रूर शब्द पर सूक्ति का चमत्कार व्यक्त किया है। इसी प्रकार विरह-ताप की अधिकता गोपिकाओं के पत्र-लेखन के व्यवसाय में अतिशयोक्ति के रूप में दिखलाई गई है।

"मोर पंखियाँ को मोरवारो चह चाहन को
ऊधव! अँखियाँ चहैं न मोर पंखियाँ चहैं।"

उक्त पंक्तियों में मोर पंखियाँ जिनमें आँख बनी हुई भासती हैं, उक्ति चमत्कार का साधन बनी है। उद्धव शतक में सूक्तियों के अतिरिक्त सरल भाव-व्यंजना भी पाई जाती है। गोपिकाएं उद्धव से कहती हैं—

"सहि हैं तिहारे कहे साँसति सबै पै बस
ऐती कहि देव कि कन्हैया मिलि जाइगो।"

जैसे उद्गारों में भाव की गहनता स्वयं व्यक्त है। कृष्ण का प्रेम भी कितना आतुरतामय है, जब वे कहते हैं—

"फिरत हुते जू जिन कुंजनि में आठो जाम
नैननि में अब सोई कुंज फिरिबो करै।"

कवि ने अनुभावों के द्वारा जो भाव-व्यंजना की है, वह उद्धव-शतक की अपनी विशेषता है।

"नैकु कहि बैननि अनेक कहि नैननि सौं
रही सही सोई कही दीन्ही हिचकीन्ह सौं।"

इसी प्रकार कृष्ण की भी व्याकुलता का चित्रण निम्न पद्य में है।

"नीर ह्वै, बहन लागि बात अँखियानि हैं"
"उससि उसाँसनि लौं बहि बहि आसनि सौं
भूरि भरे हिय के हुलास न उरात हैं।"

गोपिकाएँ जब कृष्ण का सन्देश सुनती हैं तब उनके शरीर पर जो विभिन्न सात्विक भावों की अभिव्यक्ति होती है उससे कवि कहने और न कहने योग्य सभी भावों की व्यंजना कर देता है।

× × × × × ×

कवि ने अनेक कवित्तो में इस प्रकार की पद-योजना की है कि उनसे एक शब्द-चित्र खिंच जाता है। उदाहरण के लिये कृष्ण की राधा के प्रति आतुरता, उद्धव का एक हाथ-पाती पर और एक हाथ छाती पर, गोपिकाओं की "मूरति निरास की सी आस भरी ज्वै रही।" और "उचकि पद कंजनि के पंजनि पर पेखि पेखि पाती, छाती छोहनि छ्वै रहीं।" "हम कौं लिख्यो है कहा, हमकौं लिख्यो है कहा, हमकौं लिख्यो है कहा, कहन सबै लगीं।"

'उद्धव-शतक' में रत्नाकर जी की चमत्कृत कर देनेवाली सूक्तियों की बहुलता के अतिरिक्त भाव-प्रवणता का तत्वभी कम नहीं है। प्रारम्भ ही में श्रीकृष्ण का यमुना-स्नान के समय प्रवाह में बहने वाले कमल को देख कर राधिका की स्मृति से मूर्छित हो जाने का दृश्य कवि की सुकुमार भावनामयी कल्पना का द्योतक है। अनुभावों के द्वारा भावाभिव्यंजना भी अधिक मधुर हुई है। विप्रलम्भ शृंगार की विरह-व्यथा का चित्रण—

"नैकु कहि बैननि अनेक कहि नैननि सों
रही सही सोई कही दीन्हीं हिच कीनि सों॥"

कितना सजीव है। शृंगार-रस की पूर्ण निष्पत्ति उपर्युक्त अनुभावों में हो जाती है।

कृष्ण का यह बिसूरना कि जिन कुंजों में हम आठों याम घूमते थे, अब "नैननि में सोई कुंज फिरिबो करै" स्मृति नामक संचारी भाव का प्रकाश

कर रहा है। उसी प्रकार उनका यह कहना भी श्रृंगार रस का स्मृति संचारी भाव का उदाहरण है—

सुधि ब्रजवासिनि दिवैया सुख रासिनि की
ऊधौ ! हम को नित बुलावन कौं आवती ॥

इसी प्रकार श्रीकृष्ण की व्याकुलता का चित्रण जो ऊधो के ब्रज प्रस्थान के समय अनुभावों के द्वारा किया गया है, काफी हृदयस्पर्शी है। औत्सुक्य भाव का सुन्दर निरूपण वहाँ मिलता है जहाँ उद्धव कृष्ण का पत्र गोपिकाओं को दिखाते हैं और गोपिकाएँ पैरों के पंजो पर उझक उझक कर पाती देखती हैं और पूछती हैं—

"हमको लिख्यो है कहा, हमको लिख्यो है कहा;" उद्धव जब गोपिकाओं की दशा देखते हैं तब उनके मनकी अवस्था भी इन पंक्तियों में कितनी सुन्दरता से व्यक्त हुई है—

हौले-से हले-से से हूले हूले-से हिये में हाय !
हारे-से हरे-से रहे हेरत हिराने-से ॥"

गोपिकाएँ भी उद्धव से बातें करते करते कई स्थलों पर भाव-विभोर हो जाती है। उनका आत्मविश्वास कि श्रीकृष्ण अलख, अरूप ब्रम्ह नहीं है, निम्न पंक्तियों में प्रकट है—

"लख ब्रजभूप रूप अलख अरूप ब्रम्ह
हम न कहैंगी तुम लाख कहियौ करौ।"

तभी वे कहती हैं कि हमारे कृष्ण तो हमारी गाय दुहते थे, हमारे साथ थिरकते थे-माखन खाते, वेणु बजाते और गौएँ चराते थे—तुम्हारा अलख अरूप ब्रम्ह कहो उद्धव! हमारे कौन काम आयेगा—? इसलिये वे सहज भाव से कहती हैं कि हम किसी ब्रम्ह के बाप की चेरी नहीं है। हम तो एक कृष्ण की ही दासी हैं। इसलिये वे त्रिबाचा बाँध कर कहती हैं—

" वे तो हमारे ही हैं, हमारे ही है, हमारे ही हैं। "

उद्धव जब गोपिकाओं के स्वाभविक तर्क और प्रेमातिरेक से हतबुद्धि हो जाते हैं और गोपिकाओं के भक्ति-भाव में डूब कर मथुरा लौट आते हैं, उस समय की उनकी अनुराग-भरी अभिव्यक्ति हृदय पर प्रभाव डालती है। वृंदावन की गोपिकाओं के दर्शन जिन आँखों में एकबार हो चुके हैं, उनके आँसू भी इतने पवित्र हैं कि उन्हें उद्धव पृथ्वी पर नहीं गिरने देते। उन्हें अपनी बहोलियों से पोंछते है। श्रीकृष्ण भी उन आंसुओं का कम मूल्य नहीं आँकते। वे भी उन्हें अपने पट से पोंछकर आँखों में लगा लेते हैं और इस प्रकार गोपिकाओं के मिलन-स्पर्श का सुखानुभाव करते हैं। अतः यह सिद्ध है कि जहाँ उद्धव-शतक में बौद्धिकता पाई जाती है वहाँ हृदयस्पर्शी भाव-व्यंजना भी है।

प्रसाद की "लहर"

जयशंकर प्रसाद की 'लहर' में मन की बाह्य और भीतरी दोनों प्रवृत्तियों का निरूपण है। "आँसू" के बाद प्रकाशित होने से उसमें करुणा की नव अँगड़ाई-सी "उठ रही है और पलायनवाद का स्वर सुन पड़ता है। उसमें ऐतिहासिक घटनाओं पर आधारित जो चित्र हैं, उनमें भी निराशा, निर्वेद और वेदना रह रह कर हहरा उठी हैं। संग्रह में कुल ३० रचनाएँ हैं। उनमें अपने युग की साहित्यिक लहर का पूरा निर्वाह है, यद्यपि कतिपय रचनाएँ बहिर्मुखी हैं, तोभी उनमें कवि तटस्थ नहीं है, वह केवल घटनाओं का दर्शक मात्र नहीं है; रचनाओं में अन्तभावना भी प्रतिध्वनित है। लहर का रचना-काल छायावाद और रहस्यवाद से अभिभूत रहा है। कवि ने छायावाद को वेदनामयी अनुभूति की लाक्षणिक अभिव्यक्ति के रूप में स्वीकार किया है।

इन कविताओं में रीतिकालीन-प्रचलित परम्परा से (जिसमें बाह्यवर्णन की प्रधानता रही है;) भिन्न भावाभिव्यक्ति हुई है। नवीन भाव आन्तरिक स्पर्श से पुलकित हैं। पर आन्तरिक स्पर्श प्रकृति के रूप तक ही परिमित नहीं हैं। कुछ समीक्षकों ने छायावादी रचनाओं के सम्बन्ध में विवेचन करते हुए लिखा है कि जो रचना प्रकृति के साथ कवि की भीतरी अभिलाषा-रागात्मिका वृत्ति-को अभिव्यक्त करे, वह छायावाद का रूप है और जो परोक्ष सत्ता के प्रति करे, वह रहस्यवाद की कृति है। पर प्रसाद यह नहीं मानते। वे कहते हैं कि छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है। "ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान तथा स्वानुभूति की विवृत्ति छायावाद की विशेषताएँ हैं।" अपने भीतर से मोती के पानी की तरह अन्तर स्पर्श करके भाव-समर्पण करनेवाली अभिव्यक्ति-छाया-कान्तिमयी होती है। "रहस्यवाद को उन्होंने 'अहम्' का 'इदम्' से समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न माना है और यह अपरोक्ष अनुभूति समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा सम्भव है। हिंदी कविता के रहस्यवाद में विरह भी युग की वेदना के अनुकूल मिलन का साधन बनकर इस में उच्छ्वासित है। एक वाक्य में प्रसाद ने इस का यह सूत्र प्रस्तुत किया है— काव्य में आत्मा

की संकल्पात्मक मूल अनुभूति की मुख्य धारा रहस्यवाद है। प्रकृति का आत्मा से पृथक्करण नहीं वरन् उसमें पर्यवसान अद्वैत है और द्वैत आत्मा और जगत की भिन्नता का विकास है। प्रसाद ने रहस्यवादी रचना में प्रकृति का आत्मा में पर्यवसान माना है। *आत्मा में उल्लास सहित अद्वैत भावना की प्रतिष्ठा ही रहस्यवादी कवि का लक्ष्य होता है। कवि ने छायावादी और रहस्यवादी रचनाओं में यही भेद माना है कि एक में जहाँ स्वानुभूति को विशिष्ट शैली में अभिव्यक्ति है वहाँ दूसरी में 'अहम्' का 'इदम्' से समन्वय है। पं. रामचंद्र शुक्ल ने छायावाद का सामान्यत: यह अर्थ किया है कि उसमें प्रस्तुत के स्थान पर उसकी व्यंजना करने वाली छाया के रूप में अप्रस्तुत का कथन। यह अर्थ फरासीसी प्रतीकवाद का पर्याय है, जान पड़ता है। इस शैली के भीतर शुक्लजी ने छायावाद शब्द का प्रयोग विशिष्ट शैली के अतिरिक्त उस रहस्यवाद के अर्थ में भी किया है जहाँ कवि उस अनन्त और अज्ञात प्रियतम को आलम्बन बना कर अत्यन्त चित्रमयी भाषा में प्रेम की अनेक प्रकार से व्यंजना करता है। शुक्लजी ने छायावाद के इस अर्थ को ग्रहण करनेवाली केवल कवियित्री महादेवी वर्मा को माना है। प्रसाद, पन्त आदि को छायावाद के शैलीकार के रूप में स्वीकार किया है, जो चित्रमयी भाषा में प्रतीक पद्धति पर अपने को व्यक्त करते रहे हैं।

'लहर' में कवि ने छायावाद के दोनों रूपों का उदाहरण प्रस्तुत किया है। महादेवी ने जहाँ अगोचर प्रियतम के लिये विरह-मिलन के मादक चित्र अंकित किये हैं, वहाँ प्रसाद ने भी अपने प्रियतम की आँख मिचौनी और क्रीड़ा का उल्लासमय वर्णन किया है। वे उससे कहते हैं कि वह किसी प्रकार भी आँखों से ओझल होकर नहीं जा सकता—

---

*आकुल अकूल बनने आती,
अब तक तो है वह आती
देव लोक की अमृत कथा की माया—
छोड़ हरित कानन की आलस छाया—
विश्राम माँगती अपना।
जिसका देखा था सपना—
निःसीम व्योम तल नील अंक में,
अरुण ज्योति की झील बनेगी कब सलील
हे सागर संगम अरुण नील!

निज अलकों के अंधकार में तुम कैसे छिप आओगे ?
इतना सजग कुतूहल, ठहरो, यह न कभी बन पाओगे।
देख न लूं इतनी ही तो है इच्छा लो सिर झुका हुआ।
कोमल-किरण उँगलियों से ढँक दोगे यह दृग खुला हुआ।
फिर कह दोगे: पहिचानो तो मैं हूँ कौन बताओ तो !
किन्तु उन्हीं अधरों से, पहिले उनकी हँसी दबाओ तो।
सिहर भरे निज शिथिल मृदुल अंचल को अधरों से पकड़ो।
बेला बीत चली है चंचल बाहुलता से आ जकड़ो।

प्रसाद का प्रियतम पुरुष नहीं नारी है और उपर्युक्त पंक्तियों में नारी की खिलवाड़ का ही उन्मादकारी चित्रण है। इसी ससीम आलम्बन को कवि ने असीम का रूप दे दिया है। उनकी कामना है—

"तुम हो कौन और मैं क्या हूँ, इस में क्या है धरा सुनो !
मानस जलधि रहे चिर चुम्बित, मेरे क्षितिज उदार बनो।"

कवि अपने प्रियतम को अपने मन में ही सदा बसाये रखना चाहता है। इसीलिये कहता है— मानस-जलधि रहे चिर चुम्बित। 'क्षितिज' सम्बोधन से यह प्रतीत होता है कि प्रियतम दृष्टिगोचर तो होता है परन्तु आत्मगत नहीं होता, वह अपनी दूरी बनाये रहता है। सम्भवतः क्षितिज शब्द से आचार्य शुक्लजी ने कविता केआलम्बन में रहस्यात्मकता का आभास पाया है। परन्तु वास्तव में देखा जाय तो "हे सागर संगम अरुण नील" में कवि ने आत्मा का परमात्मा में 'अहम्' का 'इदम्' से पर्यवसान लक्षित किया है। अतएव इसमें रहस्य-वाद बड़ी स्पष्टता के साथ दिखलाई देता है। आत्मा युगयुग से परमात्मा में विलीन होने के लिये स्वप्न देखती रही है और जब मिलन बेला आई तो संसार की सब विलासिता को त्याग कर उल्लास के साथ उसमें एकाकार हो गई। इसी तथ्यको कवि ने गंगा और सागर के मिलन में व्यंजित किया है। प्रसाद सौन्दर्य और प्रेम के कवि हैं। उनके लिये प्रेम ही परमेश्वर है और परमेश्वर ही प्रेम है। लहर के प्रथम गीत में ही कवि गाता है—

ओ प्यार पुलक से भरी ढुलक
आ चूम पुलिन के बिरस अधर"

जीवन के सुख दुखमय दो किनारों (पुलिन) को कवि फिर से माधुर्यपूर्ण बनाना चाहता है। वह जैसे अपने शुष्क जीवन से ऊब उठा हो। इसीलिये जब कभी उसके जीवन में कुछ क्षण स्नेह की आर्द्रता लेकर आते हैं, तो वह गा उठता है—

"अरे आगई हैं भूली-सी मधुऋतु दो दिन को
छोटी-सी कुटिया में रच दूँ, नई व्यथा साथिन को ॥"

'नई व्यथा-साथिन' से कवि का तात्पर्य प्रेम की पीड़ा से मालूम होता है। वह इस नई साथिन को नई कुटिया में बसाकर दुलराना चाहता है। प्रेम के क्षणिक वसन्तागम का वह एकान्त में खूब उपभोग करना चाहता है, शुष्क वातावरण को बहुत दूर भगा देना चाहता है, इसीलिये कहता है—

'वसुधा नीचे ऊपर नभ हो, नीड़ अलग सबसे हो।'
झकाड़ खंडके निर पतझड़ में भागो सूखे तिन को ॥

तभी आशा के अंकुर फूलेंगे और सिहरन से भरी हुई मलयानिल की लहरें आयेंगी। वसन्त के रूपक में कवि ने अपने प्रेमी जीवन की क्षणिक सुखमयी घड़ियोंका स्मरण किया है। एक गीत में प्रेयसीके उपेक्षामय व्यवहार की शिकायत है—

"निधरक तूने ठुकराया तब मेरी टूटी मृदुप्याली को
उसके सूखे अधर माँगने तेरे चरणों की लाली को ॥"

इन पंक्तियों में कवि कहता है "मेरे होंठ तेरे चरणों को चूमना चाहते हैं।" जिस समय निष्ठुर प्रेमी की मिलन-कामना हूक उठी, उसका सारा शरीर और मन हलचल से भर गया। इस भाव को उसने निम्न पंक्तियों में व्यक्त किया है—

"निदय हृदय में हूक उठी क्या, सोकर पहली चूक उठी क्या,
अरे कसक वह कूक उठी क्या, झंकृत कर सूखी डाली को ?

'सूखी डाली' शब्द में आशिक की ठठरी-मययष्टि की व्यंजना है। कवि अपने प्यार करनेवालेको भी एक गीत में खोज रहा है। वह प्रेमी अपने निष्ठुर व्यापारों में सुख माना करता है पर अपने प्रेमी को चुपचाप मरते देखकर उसमें भी करुणा काँप उठी है—

"निष्ठुर खेलों पर जो अपने रहा देखता सुखके सपने
आज लगा है क्या वह कँपने देख मौन मरनेवाले को ?"

संसार की संघर्षमयी स्थिति से कवि दूर भाग जाने की भी कामना करता है। वह कहता है—

"लेचल मुझे भुलावादेकर मेरे नाविक ! धीरे-धीरे
जिस निर्जन में सागर-लहरी, अम्बर के कानों में गहरी
निश्चलप्रेमकथा कहती हो, तज को लाहलकी अवनीरे ॥"

वह ऐसे एकान्त स्थल पर भाग जाना चाहता है जहाँ तारों भरी रात में शान्त चित्त होकर थका हुआ जीवन, विश्राम-सुखका अनुभव करे।

यौवन की अधीरताका चित्र भी कवि ने अंकित किया है—

" आह रे वह अधीर यौवन । "

यौवन बरसाती बादलोंका घटाटोप है जो मादकता की वर्षा करता है और बुद्धि-विवेक के प्रकाश को ढक देता है। भावना के आकाश में कभी-कभी बिजली के समान बुद्धि कौंध आती है। तात्पर्य यह कि यौवन मादकता-प्रधान होता है। उस समय विवेक की कमी रहती है। अधरों में अधरोंकी प्यास और नयनोंमें दर्शन की उत्कण्ठा आपूर रहती है। " तुम्हारी आँखोंका बचपन " शीर्षक कविता में कविने अपनी ही आँखों के बचपन का स्मरण किया है। आत्मानुभवोंको लाक्षणिक शैली में व्यक्त कर कविने अपने युगकी काव्य-प्रवृत्ति प्रदर्शित की है। बाह्य प्रकृतिके चित्रण में भी कविने यही वृत्ति दर्शायी है। उषःकाल को नारी रूप प्रदानकर एक आकर्षक चित्र खींचा गया है—

" बीती विभावरी जागरी
अम्बर-पनघट में डूबो रही—
तारा-घट ऊषा-नागरी।
खग-कुल कुल कुल-सा बोल रहा,
किसलय का अंचल डोल रहा,
लो यह लतिका भी भर लाई—
मधु मुकुल नवल रस गागरी। "

यदि कवि "बीती विभावरी जागरी" न कहता तो शेषपंक्तियाँ ध्वनिकाव्य का अच्छा उदाहरण बनतीं। परंतु पहली पंक्ति में प्रातः काल होने का भाव स्पष्ट हो जाने से यह गुणीभूत व्यंग्य का उदाहरण रह गया है।

'कोमल कुसुमों की मधुर रात' के वर्णन में सजीवता है। 'वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे' में वर्षा के वर्णन के साथ-साथ कवि-जीवन का प्रतिबिम्ब एक नई झाँकी प्रस्तुत कर रहा है।

'लहर' में अनेक रचनाएँ बाह्यात्मक प्रतीत होती हैं। पर उनमें भी कवि की रागात्मक छाया देखी जा सकती है। "अरी वरुणा की शान्त कछार!" में मूल गंध कुटी विहार—उत्सव का गीत बुद्ध भगवान के संदेश की प्रतिध्वनि सुनाता है। "जगती की मंगल मयी उषा बन करुणा उस दिन आई थी" "में करुणा शब्द बुद्ध का प्रतीक है। बुद्ध भगवान के आजाने पर आश्रम में मनुष्य ही नहीं मृगों, खगों तक का कष्ट भाग गया था—भगवान की पदध्वनि सुनते ही विपदा का पलायन हो गया था।

"अशोक की चिंता, में हिंसा के प्रति सम्राट की विरक्ति प्रकट की गई है। अशोक भूमि पर नहीं मानव-मन पर शासन करना चाहता है। धू-धू जलने वाली वसुधा में जड़-चैतन्य सभी झुलस रहे हैं, तभी कवि अशोक के साथ कहता है—वह जा बन करुणा की तरंग।

जलता है यह जीवन-पतंग।

'शेरसिंह का शस्त्रसमर्पण' रचना सिक्ख और अंगरेजों के बीच होने वाले तृतीय युद्ध से सम्बन्ध रखती है। रणजीतसिंह के मर जाने के बाद उनके नाबालिग पुत्र की देख संभाल रणजीतसिंह की पत्नी के अतिरिक्त लालसिंह पर भी आ पड़ी थी। लालसिंह अंगरेजो की ओरसे व्यवस्थापक (दीवान) का कार्य करता था। इसके पूर्व शेरसिंह यही कार्य करता था। चिलियान वाला बाग में सिक्खों और अंगरेजी फौजों में भीषण युद्ध हुआ था जिसकी बेचैनी इंग्लैण्ड के शासकों तक में अनुभव हुई थी। नेपोलियन को परास्त करने वाले जनरल ड्यूकआव वेलिंग्टन ने अपनी सेवाएं सिक्खों को दबाने के लिए अर्पित की थी पर यहाँ तक नौबत नहीं आई। अंगरेजो ने साम दाम दण्ड-भेद से सिक्खों का नैतिक स्तर गिरा दिया। लालसिंह जी खोल कर अंगरेजों से नहीं लड़ा परन्तु शेरसिंह ने शक्ति रहते तक युद्ध किया और अन्त में उसने १०-३ १८४६ में जनरल गिलबर्ट के आगे हथियार डाल दिये। जिस समय शेरसिंह और उसके साथियों ने शस्त्र अर्पित किये, एक बूढ़ा सिक्ख अस्त्रों के अम्बार के सामने आकर,साश्रु बोल उठा-आज रणजीतसिंह मर गया। इस घटनापर प्रो. सहल ने यह लिखा है कि शेरसिंग और रणजीतसिंह एक ही हैं। यह कथन इतिहास-द्वारा गलत सिद्ध होता है। कविता में 'शेरपंचनद का प्रवीर रणजीतसिंह, आज मरता है देखो' में कवि का यह तात्पर्य है कि आज हमारे हथियार रख देने के बाद रणजीतसिंह की वास्तविक मृत्यु हुई। जब तक शस्त्र हमारे हाथ में थे तब तक हमारा सरदार मानो जीवित ही था।

"पेशोलाकी प्रति ध्वनि" में उदयपुर के राजा प्रताप की गौरवगाथा और राजा का अपनी वर्तमान संतति की दुर्दशा पर चीत्कार सुन पड़ता है। पेशोला उदयपुर की निकटवर्ती एक झील का नाम है। "प्रलय की छाया" में गुजरात की अपने समय की अत्यन्त सुंदरी रानी कमला का स्वगत (जीवन सिंहावलोकन) है जिसमें पश्चाताप की उसासे हैं। अलाउद्दीन खिलजी ने गुजरात की दो प्रसिद्ध वस्तुओं--कमला और गुलाम माणिक को बन्दी बन कर अपने प्रासाद में रखा था। कमला ने पद्मिनी के समान अपने सतीत्व की रक्षा-नहीं की। प्रत्युत उसने अलाउद्दीन को आत्म-समर्पण कर दिया था। अला-उद्दीन से उसके दो तीन संतति भी हुई थीं; कहा जाता है कि गुलाम ने

विष देकर अलाउद्दीन की हत्या कर डाली थी और वह स्वयंशासक बन गया था। उसीने, जो सुल्तान कहलाने लगा था, कमला का अन्त कर डालने का उपक्रम रचा था। उसी समय कमला माना अपने आगे प्रलय की छाया देख कर काँप उठी है और उन्हीं क्षणों में उसने अपने गत जीवन का इस कविता में सिंहावलोकन किया है।

'लहर' की रचनाओं में कवि की व्यापक दृष्टि को देखकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने काफी संतोष व्यक्त किया है। उनकी बहिर्मुखी प्रवृत्ति आचार्य के आदर्श के अनुकूल प्रतीत होती है।

'पन्त' की बहिर्मुखी साधना : ३१ :

छायावाद-युगकी प्रसाद, पन्त और निरालात्रयी प्रसिद्ध हे। 'प्रसाद' ने 'माया' (नारी), 'पन्त' ने 'प्रकृति' और 'निराला' ने 'पुरुष' के प्रति अधिक अभिलाप व्यक्त किए और इस प्रकार आधुनिक हिन्दी-कवितामें विविधता के दर्शन कराये हैं। आज हम 'पन्त' को काव्य-साधना के एक रूप की विवेचना करना चाहते हैं। पन्तकी अभी तक बारह कविता-पुस्तकें हमारे सम्मुख आ चुकी हैं। उनका रचना-काल की दृष्टि से यह क्रम है—(१) वीणा (१९१८), (२) ग्रन्थि (१९२०), (३) पल्लव (१९२२-२६), (४) गुंजन (१९२६-३२), (५) युगान्त (१९३५), (६) युगवाणी (१९३७-३९), (७) ग्राम्या (१९४०), (८) स्वर्ण-किरण (१९४७), (९) स्वर्ण-धूलि (१९४८), (१०) : मधुज्वाल (१९४८), (११) युगपथ (१९४९), और (१२) उत्तरा (१९४९),। इनके अतिरिक्त कविने इन्हीं संग्रहोंमें से चुनकर दो रचना-संग्रह और सम्पादित किये हैं, जो 'पल्लविनी' और 'आधुनिक कवि' नाम से प्रकाशित हुये हैं।

पन्तके किशोर कविमें प्रकृति के मार्ग से परोक्षसत्ताके प्रति कुतूहल का भाव जाग्रत होता है परंतु आयु एवं परिस्थिति के साथ-साथ उनकी भावना में भी परिवर्तन हो जाता है। अतः हम कवि की वीणा में अरूप सत्ताका, ग्रन्थि में रूप-जगत का—विशेषतः नारी रूप का—पल्लवमें प्रकृतिका, युगवाणी और ग्राम्यामें समाज (वाद) का, 'स्वर्ण-किरण' व 'स्वर्ण-धूलि' में अवचेतन मन का तथा 'उत्तरा' में अवचेतन मन का आत्मोन्मुख-विकास-स्वर सुनते हैं। कविने अपनी किशोरावस्थाकी मनोभूमिका प्रतीक संख्या ४ में इस प्रकार चित्रांकन किया है—"जब मैं छोटा-सा चंचल भावुक किशोर थी, प्रकृति मेरे हृदय में मीठी स्वप्नोंने से भरी हुई चुप्पी अंकित कर चुकी थी जो पीछे मेरे भीतर अस्फुट तुतले शब्दों में बज उठी थी। मेरे मनमें बरफ की ऊँची चमकीली चोटियाँ रहस्य भरे शिखरोंकी तरह उठने लगी थीं, जिन पर खड़ा हुआ नीला आकाश रेशमी चन्दोवेकी तरह आँखों के सामने फहराया करता था और सर्वोपरि हिमालय का आकाशचुम्बी सौन्दर्य मेरे हृदय पर एक महान संदेशकी तरह एक स्वर्गोन्मुखी आदर्शकी तरह एक व्यापक विराट आनन्द

सौंदर्य तथा तपः पूत पवित्रताकी तरह प्रतिष्ठित हो चुका था। '' यह किशोर मनोवृत्ति, जिसने परोक्षको झाँकनेकी जिज्ञासा उत्पन्न की थी, शीघ्रही प्रकृतिकी ओर सघन हो गई और फिर प्रकृतिसे व्यष्टिमें (नारी) केन्द्रित हो गई। पर यह अवस्था भी अधिक समय तक न रही। व्यष्टिसे समष्टि तथा समष्टिसे पुनः अभ्यन्तरकी ओर उन्मुख है। दूसरे शब्दों में स्थूल से सूक्ष्म और सूक्ष्म से पुनः स्थूलकी ओर उसकी गति हो रही है। हेगलका कहना है कि कवि संसारके अन्तःकरण में प्रविष्ट होकर आत्मानुभूति प्राप्त करता है और उस अनुभूतिको अपनी प्रवृत्ति (Mood) के अनुसार व्यक्त करता है। पन्त का कवि, यदि हम अंगरेजी शब्दका प्रयोग करें, तो कह सकते हैं (Moody) है—लहरी है। प्रारम्भमें ऐसा लगता है, जैसे उसे आत्माका स्वर सुन पड़ा हो; फिर जैसे प्रकृतिने उसे मौन निमन्त्रण दे बुला लिया हो। वह अन्तर्मुखी से बहिर्मुखी बन पर जब किसी के घने, लहरे रेशमके बालका सौन्दर्य उसे उलझाने लगा तो वह सर्वथा मानवीय रूप का गायक बन गया—

"तुम्हारे रोम-रोमसे नारि।
मुझे है स्नेह अपार।
तुम्हारे मृदु उरमें सुकुमारि!
मुझे है स्वर्गागार।
तुम्हारे गुण हैं मेरे गान
मृदुल दुर्बलता, ध्यान,
तुम्हारी पावनता, अभिमान
शक्ति पूजन सम्मान,
तुम्हीं हो स्पृहा, अश्रु औ हास
सृष्टिके उरकी साँस"

और भी,

"तुम्हारी आँखोंका आकाश,
सरल आँखोंका नीलाकाश।
खो गया मेरा खग अनजान,
मृगेक्षिणि! इनमें खग अज्ञान।"

परन्तु जब नारीके प्रेमसे, जैसाकि 'ग्रन्थि'में प्रतिध्वनित है, कविको निराशा होती है, वह 'प्रसाद' के समान व्यष्टिके मोह को त्यागकर समष्टि-प्रेमी बन जाता है और जब उसे अनुभव होता है कि व्यक्तिके आत्मिक विकासके बिना समाजका विकास सम्भव नहीं है तब वह पुनः व्यक्ति अथवा आत्मवादी बन जाता है। इस समय वह मानसिक प्रवृत्तिके इसी धरातलपर है—वह भौतिक एवं

आध्यात्मिक जीवनके समन्वयके लिए आतुर दीखता है। उसका विश्वास है कि इसी समन्वयमें मानवकी पूर्णता निहित है। कवि आत्माको 'मानव-मन,का परिष्कृत रूप मानता है, उसकी पृथक् सत्तामें उसका विश्वास नहीं है। तभी वह कहता है—

"आज हमें मानव-मनको करना आत्माके अभिमुख।"

यहाँ यह बात स्मरण रखना चाहिये कि पन्तकी आध्यात्मिकता धार्मिक भूमिपर स्थित नहीं है। वह मनोवैज्ञानिक है। उनपर विवेकानन्दका प्रभाव अमिट रूपसे पड़ा है। इसीलिये वे अद्वैतवादके मूल सिद्धान्त विभिन्नतामें एकता (Unity in diversity) के दर्शन करते हैं। पाश्चात्य मानववाद भी अद्वैतवादके इसी सिद्धान्तकी प्रतिध्वनि है। पन्तकी 'ज्योत्स्ना' में यही मानववाद है, जिसका विकास 'युगान्त' के बाद 'युगवाणी' और 'ग्राम्या'में विशद रूपसे हुआ है। इनकी रचनाके समय कविपर मार्क्सवादी सिद्धान्तोंका प्रभाव पड़ रहा था। साथ ही वह देशमें क्रान्ति उपस्थित करनेवाले गांधीवादके प्रति भी आकृष्ट था। मार्क्सवाद जहाँ भौतिक संघर्षमें आस्था रखता है, गांधीवाद उसका ठीक विरोधी है। वह भीतरी संघर्ष द्वारा सुधार चाहता है। मार्क्सवाद वर्ग-युद्धका पक्षपाती है और गांधीवाद वर्ग-युद्धकी अपेक्षा वर्ग-समझौतेका समर्थन करता है पन्तने वर्ग-युद्धको मान्यता नहीं दी, गांधी (वाद) के समान ही उसमें उन्होंने स्थायी शान्तिके चिन्ह नहीं देखे। पन्त वास्तवमें मार्क्सवाद और गांधीवादमें समन्वय स्थापित करना चाहते थे। परन्तु दोनोंका दृष्टिकोण इतना विभिन्न है कि समझौता असम्भव प्रतीत होता है। पन्तने, जिस समय छायावादसे विदा लेनी चाही, यह वक्तव्य 'आधुनिक कवि' में प्रकाशित किया, "छायावाद इसीलिये अधिक नहीं रहा कि उसके पास भविष्यके लिये उपयोगी नवीन आदर्शोंका प्रकाशन, नवीन भावनाका सौन्दर्य-बोध, नवीन विचारोंका रस नहीं रहा। वह काव्य न रहकर अलंकृत संगीत बन गया। हिन्दी कविता छायावादके रूपमें ह्रासयुगके वैयक्तिक अनुभवों, ऊर्ध्वमुखी विकासकी प्रवृत्तियों ऐहिक जीवनकी आकांक्षा-सम्बन्धी स्वप्नों, निराशाओं; संवेदनाओंको अभिव्यक्त करने लगी; व्यक्तिगत जीवन-संघर्षोंसे क्षुब्ध होकर पलायनके रूप में सुख-दुख, आशा-निराशामें सामंजस्य स्थापितकरने लगी। सापेक्षकी पराजय उसमें निरपेक्षकी जयके रूपमें गौरवान्वित होने लगी।" मार्क्सवादी प्रभावका ही यह परिणाम था कि पंत यह भी कहने लगे थे कि "बाह्य परिस्थितियोंके बदलनेसे सांस्कृतिक चेतनामें परिवर्तन होता है।"— 'मनुष्यकी सांस्कृतिक चेतना उसकी वस्तु-परिस्थितियोंसे निर्मित सामाजिक सम्बन्धोंका प्रतिबिम्ब है।" परन्तु सन् १९४४ के बादसे ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी यह धारणा परिवर्तित हो गई—

"सामाजिक जीवनसे कहीं महत् अन्तर्मन ।"

जैसा कि ऊपर कहा गया है, कवि अब बाह्य परिस्थितियों को बदलनेकी अपेक्षा पहले मानव-मनकी (भीतरी) परिस्थिति में परिवर्तन आवश्यक समझता है। कविके इस परिवर्तित दृष्टिकोणपर अरविन्दकी आत्मविकासवादी साधनाका प्रभाव परिलक्षित होता है। इस तरह हम देखते हैं कि पंतका कवि गत्यात्मक (Dynamic) है। भीतरी और बाहरी परिस्थितियोंसे वह सतत: प्रभावित होता रहता है। "मैं अपने युग, विशेषत: देश, की प्राय: सभी महान् विभूतियोंसे किसी न किसी रूपमें प्रभावित हुआ हूँ। 'वीणा', 'पल्लव' कालमें मुझपर कवीन्द्र-रवीन्द्र तथा स्वामी विवेकानन्दका प्रभाव रहा है, युगान्त एवं बादकी रचनाओंमें महात्माजीके व्यक्तित्व तथा मार्क्सके दर्शन का। किन्तु इन सबमें जो एक परिपूर्ण एवं सन्तुलित अन्तर्दृष्टिका अभाव खटकता था उसकी पूर्ति मुझे श्री अरविन्दके जीवनदर्शनमें मिली। ...—इस अन्तर्दृष्टिको मैं इस विश्व-संक्रान्ति कालके लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा अमूल्य समझता हूँ।"

महात्माजीने जिस प्रकार सत्यके प्रयोग किये थे उसी प्रकार सम्भवत: पन्त भी हिन्दी कविता क्षेत्रमें अपनी प्रवृत्तियोंका प्रयोग प्रकाशित करते दृष्टिगोचर होते हैं। उनके कौन-से प्रयोग स्थायित्व प्राप्त करेंगे, यह कालके गर्भमें है, परन्तु यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि किशोर कवि पन्त लक्षणात्मक अभिव्यक्ति रखते हुए भी अधिक प्रसादिक है और प्रौढ़कवि पन्त अभिधामूलक अभिव्यक्तिमें भी अधिक दुरूह है। उनकी आधुनिकतम कविताएँ अव्यक्त मनके उच्च स्तरोंका ज्ञात कराना चाहती हैं। इससे आत्माके अन्त: सौन्दर्यसे परिचय प्राप्त होता है और मनकी अनेक प्रकारकी वृत्तियाँ, संकीर्णताएँ और दुर्बलताएँ दूर होती हैं। 'उत्तरा' में कविने लिखा है—"एकताका सिद्धान्त अन्तर्मनका सिद्धान्त है, विविधताका सिद्धान्त बहिर्मन तथा जीवनके स्तरका; दूसरे शब्दों में एकताका दृष्टिकोण ऊर्ध्व दृष्टिकोण है और विभिन्नताका समदिक्, विविध तथा अविभक्त होना जीवन-सत्यका सहज अन्तर्जात गुण है। इस दृष्टिसे भी ऐसे किसी विश्व-जीवनकी कल्पना नहीं की जा सकती, जिसमें ऐक्य तथा वैचित्र्य संयोजित न हो।" इस कथनमें भी कविका बाहरी और भीतरी योग लक्षित है। कविने आदर्श और वस्तुवादी दृष्टिकोणों में केवल धरातलका ही भेद माना है और उन धरातलोंको परस्पर अविच्छिन्न रूपमें जुड़ा हुआ भी अनुभव किया है। सत्य, शिवं सुन्दरं संस्कृति तथा कलाका धरातल है, भूख और काम प्राकृतिक आवश्यकताओंका। संस्कृतिको कविने हृदयकी शिराओं में बहनेवाला मनुष्यत्वका रुधिर माना है। 'ग्राम्या' में सांस्कृतिक समस्याकी ओर कविने इशारा किया है। उससे कविकी मानसिक उथल-पुथलका थोड़ा-बहुत

आभास मिल जाता है। कवि स्वा० विवेकानन्दके सारगर्भित कथन—"मैं यूरोपका जीवनसौष्ठव तथा भारतका जीवनदर्शन चाहता हूँ।"—को अपने युग के अनुरूप चरितार्थ करना चाहता है। युग-मानव आध्यात्मिक, मानसिक और भौतिक संचयको 'परस्पर संयोजित' कर सके, यही कविका स्वप्न प्रतीत होता है।

ग्रन्थि, पल्लव गुंजन तथा, युगान्तके पश्चात् युगवाणी और ग्राम्यामें कविके दृष्टिकोणमें जो परिवर्तन हुआ है, उसीकी यहा समीक्षा की जाती है। यह काल मार्क्सवाद के अध्ययनका काल था। इसीलिये कविने बाह्य परिस्थितियों के सुधारपर अधिक आग्रह प्रकट किया है।* यद्यपि एक आलोचकके शब्दोंमें "युगवाणी और ग्राम्यामें भी कविने अतिभौतिकवादका निषेध किया है और आत्म-सत्य तथा वस्तु-सत्यके समन्वयपर भी जोर दिया है," तो भी इन कृतिओंमें चेतनपर वस्तु-सत्य या जड़का प्रभुत्व ह। 'ग्राम्या' में चेतन मनकी क्रीड़ाका उद्देश्य उपचेतन मनपर विजय पाना कहा गया है। भीतर-बाहर की खाई पाटना ही कविके काव्यका लक्ष्य प्रतीत होना है। 'ग्राम्या' में इसीलिये भौतिकवादिताके साथ सांस्कृतिक विकासका आग्रह घोषित किया गया है—

"राजनीतिका प्रश्न नहीं रे आज जगतके सम्मुख,
अर्थसाम्य भी मिटा न सकता मानवजीवनके दुख—
आज वृहत् सांस्कृतिक समस्या जगके निकट उपस्थित
खण्डमनुजताको युग-युगकी होना है नवनिर्मित,
विविध जाति वर्गों, धर्मोंको होना सहज समन्वित
मध्य युगोंकी नैतिकताको मानवतामें विकसित।"

ग्राम्याकी प्रथम कवितामें ही कविने स्वप्न देखा है—

"जातिवर्णकी, श्रेणिवर्गकी तोड़ भित्तियाँ दुर्धर
युग-युगके बन्दीगृहसे मानवता निकली बाहर।"

इन उद्गारोंमें कवि श्रेणि-वर्गकी भित्तियाँ मार्क्सवादी बाह्य संघर्षसे तोड़ना नहीं चाहता; प्रत्युत उन्हें समाजमें मानवताके विकास-मार्गसे क्रमशः

---

* "ज्योत्नामें मैने जीवनकी जिन बहिरन्तर मान्यताओंका समन्वय करने का प्रयत्न तथा नवीन सामाजिकता (मानवता) में उनके रूपान्तरित होने की ओर इंगित किया है, 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या'में उन्हीके बहिर्मुखी (समतल) संचरणको, जो मार्क्सवादका क्षेत्र है, अधिक प्रधानता दी है।" ('उत्तरा'में सुमित्रानन्दन पत)

उसी तरह विलीन करना चाहता है, जिस तरह रक्तहीन क्रान्तिके द्वारा आज भारतीय सामन्तशाही रियासतोंका भारतीय शासनमें विलीनीकरण हो गया है।

कविके दृष्टिकोणको समझनेके बाद हम 'ग्राम्या' की रचनाओंको निम्न विभागोंमें बाँट सकते हैं—

(१) ग्राम-दर्शन (२) ग्राम-चिन्तन (३) विविध।

(१) ग्रामदर्शन में ग्रामोंके स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध, तरुण आदिका रूप-वर्णन तथा उनके रीति-रिवाजोंका चित्रण तथा प्रकृति-वर्णन है।

(२) ग्राम-चिन्तनमें कवि ग्रामोंकी अवस्थापर सहानुभूति-पूर्ण चिन्तन करता है।

(३) विविध—रचनाओंमें ग्रामका बाहरी-भीतरी रूप ही नहीं, अन्य विषय भी समाविष्ट हैं— जैसे भारतमाता, महात्माजीके प्रति, राष्ट्र-गान, सौन्दर्यकला, अहिंसा, आधुनिका, आदि

ग्राम-दर्शनमें कविकी ग्राम-युवती, ग्राम-नारी, गांवके लड़के, वह बुड्ढा, धोबियोंका नृत्य, ग्राम-वधू, ग्राम-श्री, नहान, चमारोंका नाच, कहारोंका रुद्र-नृत्य, संध्या के बाद, दिवास्वप्न, मजदूरनीके प्रति—आदि रचनाएं आती हैं।

ग्रामयुवतीका चित्र रोमांससे भरा हुआ है। वह किसी विशिष्ट चंचल ग्राम-नारीका चित्र प्रतीत होता है, जिसकी नाज़ोंसे भरी चाल और हँसीपर ग्राम-युवक मचल-मचल उठते हैं। पनघटपर जलसे भरी गागर खींचते समय चोलीके उभारके साथ उसके भीतर कसे हुए रसभरे कलशोंकी जो कस-मस क्रीड़ा होती है, उसका वर्णन यथार्थवादितासे ओतप्रोत होने पर भी रीतिकालीन परंपराका अनुगामी है। गांवोंके सग वन-विहार करती हुई युवतीका चित्र भी ऐसा खींचा गया है, मानो कोई शरराती लड़की ग्राम-जीवन का रोमानी जीवन लूट रही है। जिन्हें ग्राम-जीवनका थोड़ा-बहुत अनुभव है वे पंतकी ग्राम युवतीके चित्रपर अनास्था ही प्रकट करेंगे। यह किसी ऐसी विशिष्ट ग्राम-युवती का चित्र हो सकता है, जो एक बार नगरके उच्छृंखल वातावरणमें रमकर ग्राममें निर्वासित कर दी गई है। कविने 'ग्राम-चित्र' शीर्षक कवितामें ग्राम-मानवको 'विषण्ण जीवन-मृत' बतलाया है। कठपुतलेमें भी—

> "ये जीवित हैं या जीवनमृत,
> या किसी काल विषसे मूर्छित।
> ये मनुजाकृति ग्रामिक अगणित।
> स्थावर, विषण्ण जड़वत् स्तम्भित।"

जब अगणित ग्रामिक जीवन्मृत दिखलाई देते हैं तब 'ग्राम युवती' शीर्षक

रचनामें ग्रामयुवतीका इठलाते हुए आना और पट सरका, लट खिसका, शरमाई, नमित दृष्टिसे उरोजोंके युगघट देखनेका चापल्य प्रदर्शित करना कहाँ तक तथ्य-संगत है ? इतना ही नहीं, उसमें कविने रोमांसके प्रति उन्मादक भावना भी आरोपित की है। वह कानोंमें गुड़हल आदि फूलोंको खोंस; हर सिंगार से कच-सँवार वन-विहार भी करती है और मेड़ोंपर 'उर मटका' और 'कटि लचका' कर आती जाती भी है। बेचारी ग्राम-नारी, कविके शब्दोंमें, क्षुधा और कामसे चिरमर्यादित रहती है—

"कृत्रिम रतिकी है नहीं हृदयमें आकुलता,
उद्दीप्त न करता उसे भाव-कल्पित मनोज।"

फिर भी उसे 'ग्राम-युवती' में अत्यधिक कामुक चित्रित कर उसने अपने कथनोंमें विरोध प्रदर्शित किया है। (ग्राम्यामें ऐसे परस्पर विरोधी उद्‌गार अन्य प्रसंगोंमें भी दिखलाई देते हैं।) 'गांवके लड़के' शीर्षक रचनामें कविने प्रथम आठ पंक्तियोंमें उनका सामान्य शब्द चित्र अंकित कर दिया है—

"मिट्टीसे भी मटमैले तन
फटे, कुचैले, जीर्ण वसन—
... ...
कोई खण्डित, कोई कुण्ठित
कृशबाहु पसलियाँ रेखांकित
टहनी-सी टाँगें, बड़ा पेट
टेढ़े-मेढ़े विकलांग घृणित
... ...
लोटते धूलिमें चिरपरिचित।"

इनको देखकर कवि चिन्तामें भीग जाता है—

"मानव-प्रति मानवकी विरक्ति"

बुड्ढेका चित्र भी वनमानुस-सा लगता है। उसकी हड्डीके ढाँचेपर चिपटी सिकुड़ी चमड़ी और सूखी ठठरीसे लिपटी हुई उभरी ढीली नसें किसके हृदयमें काली नारकीय छाया छोड़ नहीं जायगी ? 'ग्रामवधू' जब पतिके घर जाती है तब उसके रोने-बिलखनेके व्यापारको कवि केवल एक रूढ़ि मानता है! यहाँ भी कविने ग्राम्य जीवनको परखनेमें असावधानी की है। रेलगाड़ीमें ग्रामवधू बैठती है और गाड़ी जैसे ही 'भरभर' चल देती है, कविका कथन है—

"बतलाती धनि पतिसे हँसकर...
रोना-गाना यहाँ चलन-भर।"

यह दृश्य भी नागरी नायिकाका प्रतीत होता है जो पूर्वरागसे रंजित होकर वधू बनी है और बिदाके समय माँ, मौसी, सखियोंसे रुदनका अभिनयकर छम से गाड़ीमें बैठ गई है। पूर्व-रागके अभावमें शायद नागरी नायिका भी पतिसे गाड़ी चलते ही हँस-हँसकर बातें नहीं करेगी। फिर ग्राम-नारी जो अपरिपक्व अवस्थामें ही वधू बनती है और अपने भावी पतिके विषयमें प्रायः अज्ञात रहती है अपने परिजनोंसे प्रथम बार बिछुड़ते ही 'झूठे आँसू' (Crocodile Tears) नहीं बहायेगी, रोनेका अभिनय नहीं करेगी। यों स्टेशनपर विदाईका बाहरी दृश्य सजीव है, वास्तविकतासे ओत-प्रोत है।

'मजदूरनीके प्रति' शीर्षक रचनामें चित्र-चिन्तन दोनों हैं। कवि को मज-दूरनी इसलिये प्रिय है कि उसे 'कामकी लाज' नहीं छूती। उसका रूप देखिए—

"सरसे आँचल खिसका है धूल-भरा जूड़ा—
अधखुला वक्ष,—ढोती तुम सिरपर धर कूड़ा
हँसती, बतलाती, सहोदरा-सी जन-जनसे
यौवन का स्वास्थ्य झलकता आतप-सा तनसे।"

कवि उसके कंचुकी-रहित शरीरको देखकर कहता है—

"तुमने निज तनुकी तुच्छ कंचुकीको उतार,
जगके हित खोल दिये नारीके हृदयद्वार।"

'ग्राम्या' में जब हम चंचल युवती, सौम्य प्रौढ़ा नारी, वृद्ध और बालकका रूप-वर्णन पाते हैं, वहाँ हमारी उत्कंठा ग्रामकी उस वृद्धा नारी को भी देखनेके लिये जाग्रत हो जाती है जो खेतों, खलिहानों और घरोंके कोनेमें बच्चोंकी नानी बनकर कहानी कहती है और तरुणियोंकी सास बनकर उनपर शासन करती है। पर ग्राम्या में उसका चित्र नहीं मिलता।

ग्राममें धोबियों, चमारों और कहारोंके नृत्योंका वर्णन नृत्यमयी भाषामें आँखोंके सम्मुख दृश्य खींच देता है। धोबियोंमें जब 'छन छन छन छन' गुज-रिया नाचने लगती है तब दर्शकोंका मन सहज ही हर लेती है। वाद्योंका वर्णन कानोंमें जैसे वाद्य-ध्वनि भर रहा है—

" उड़ रहा ढोल धाधिन, धाधिन,
औ हुड़क घुड़कता ढिम, ढिम, ढिमा,
मंजीर खनकते खिन-खिन-खिन..."

किन्तु जब हम यह पढ़ते हैं—

"फहराता लहँगा लहर-लहर
उड़ रही ओढ़नी फर् फर् फर्
चोलीके कन्दुक रहे उभर,
(स्त्री नहीं गुजरिया वह है नर)

तब गुजरियाके नृत्यसे उत्पन्न होनेवाला सहज शृंगार उसे नरके रूपमें जानकर रसाभासमें परिणत हो जाता है। गुजरियाका नर-रूप प्रकट हो जानेपर कवि 'हुलस गुजरिया हरती मन' गाता जा रहा है और नारी-रूप नरको उसकी अतृप्त वासनाका आलम्बन बनाता जा रहा है। यह अप्राकृत व्यापार घिनौना-सा प्रतीत होता है। अधिक-से अधिक रहस्योद्घाटनके पश्चात् गुजरियाकी छन-छन-छन-छन मुद्रा हास्यका आलम्बन बन सकती है—शृंगार का नहीं। चोलीके कन्दुक उभारकर अपना असली रूप प्रकट करने बाद गुजरिया चतुर (?) ही बनी हुई है! यदि "फहराता लहँगा लहर-लहर...हुलस गुजरिया हरती मन" पंक्तियाँ कविताके अन्तमें आतीं तो रहस्योद्घाटन अधिक उपयुक्त होता और औत्सुक्य, हास्य आदि भावोंका सहज संचार सम्भव होता। सम्भवत: ग्रामवासियोंके असंस्कारी मनको प्रकट करनेके लिये कविने यह असंस्कारी चित्रण किया है! कहारोंके रुद्र-नृत्यमें कविने नृत्य-दृश्यका शब्द-चित्र नहीं खींचा है, उसने नृत्यसे उत्पन्न प्रभावका ही वर्णन किया है। यही कारण है कि इस कविताकी भाषामें चमारोंका नाच और धोबियोंका नृत्य-जैसी सहज गति नहीं है, वह चिन्तनके भारसे आक्रान्त है। 'नहान' शीर्षक कवितामें मकर-संक्रान्तिके पर्वपर कई कोस पैदल चलकर आनेवाले जन-समाजकी पर्व-यात्राका वर्णन है। ग्राम-स्त्रियाँ शरीर भरमें अनेक छोटे-मोटे आभूषणोंको गसकर चली जा रही हैं—

लड़के-बच्चे, बूढ़े, जवान—सभी हँसते-बतलाते, गाते चले जा रहे हैं। कवि इनके इस दृश्यको देखकर यह तो मानता है कि इनमें अगाध विश्वास है परन्तु इनमें नये प्रकाशकी कमी भी वह अनुभव करता है। इस कारण इनमें नव-बल नहीं पाया जाता। फिर भी कवि कहता है—

"ये छोटी बस्तीमें कुछ क्षण
भर गये आज जीवन-स्पन्दन
प्रिय लगता जन-गण सम्मेलन।"

कवि नवल प्रकाशसे सम्भवत: बौद्धिकताका आशय लेता है। यदि जीवन-स्पन्दन भरनेवाले इन ग्रामीणोंमें नवल प्रकाश भर जाता तो अगाध विश्वासके साथ पर्व-नहानकी यह उल्लासमयी धूम कहाँ दीख पड़ती? वे तो जैसा कि कवि कहता है, आज नित्य-कर्म-बन्धनसे छूटकर अपनेको सचमुच मुक्त अनुभव कर रहे हैं। नहानके द्वारा पुण्यार्जन करनेके विश्वासपर कवि व्यंग्य भी करता है। इस प्रकार केवल वस्तु-वर्णनसे कवि को सन्तोष नहीं है, वह सुधारककी भाँति टीका-टिप्पणी भी करता जाता है।

ग्राममें 'सन्ध्याके बाद' के विभिन्न दृश्य हमें सचमुच ग्रामोंमें ले जाते हैं। जिस प्रकार नगर जीवनमें असत्य, अनाचार, छल और कपटकी हाट लगी रहती है, उसी प्रकार देहातोंमें भी मानव-मनकी यही दुर्बलता दृष्टिगोचर होती है। कविका यह कथन सत्य है कि दरिद्रता पापोंकी जननी है विशेषकर इस अर्थ-प्रधान युगमें। 'दिवास्वप्न' में कवि मनोहर सतत द्रुमोंकी छायामें विहग-कीटोंके सौ-सौ स्वरोंके बीच छिपकर बस जाना चाहता है—

वहीं कहीं, जी करता, मैं जाकर छिप जाऊँ,
मानव-जगके क्रन्दनसे छुटकारा पाऊँ!
प्रकृति-नीड़में व्योम खगोंके गाने गाऊँ,
अपने चिर स्नेहातुर उरकी व्यथा भुलाऊँ।

'प्रसाद' ने भी 'ले चल मुझे भुलावा देकर, मेरे नाविक धीरे-धीरे' में इसी भावनाकी उद्भावना की है। वन-सरोवरके विभिन्न दृश्योंका सूक्ष्म वर्णन इस कवितामें पाया जाता है। रामनरेश त्रिपाठीके 'पथिक' की कामना भी दिवास्वप्नमें लहरा रही है। 'ग्राम श्री' का प्रकृति-वर्णन लुभावना है, कविके सूक्ष्म निरीक्षणका परिचायक है—

पीले – मीठे अमरूदोंमें
अब लाल चित्तियाँ पड़ीं,
पक गये सुनहले मधुर बेर,
आँवलेसे तरुकी डाल जड़ी,
लहलह पालक महमह धनिया,
लौकी औ सेम-फली फैली
मखमली टमाटर हुए लाल,
मिरचोंकी बड़ी हरी थैली।

यह दृश्य शीतकालका है, इसके पूर्व कविने वसंतके फलों
गणना की है। यों खण्ड-खण्ड रूपमें ग्राम श्री वर्णन किया गया है। ऋतु-क्रमसे यदि वर्णन किया जाता तो कविताका सम्मिलित प्रभाव अधिक आकर्षक होता। धान्य, फल और पक्षियोंके दृश्य 'ग्राम-श्री' की विशेषतायें हैं। ग्रामके प्राकृतिक दृश्योंके अतिरिक्त कविने स्वतन्त्र रूपसे भी सामान्य प्रकृति-चित्र अंकित किये हैं जिनमें शुद्ध प्रकृति-वर्णन तो नहीं है पर दृश्यखण्ड-चित्रणके साथ कविने अपने चिन्तनका तत्त्व भी उसमें सम्मिलित कर दिया है। उदाहरणार्थ 'स्वीट पीके प्रति' कविके निम्न उद्गार, उसकी अन्तर्भावनासे रंजित हैं—

'तुम वधुओं-सी अयि ! सलज्ज सुकुमार !
शयन-कक्ष, दर्शन गृहकी शृंगार !
उपवनके यत्नोंसे पोषित,
पुष्प-पात्रमें शोभित, रक्षित
कुम्हलाती जाती हो तुम निज शोभा ही के भार
कुल वधुओं-सी अयि ! सलज सुकुमार !"

सौन्दर्यकलामें भी कवि फ्लाक्स, वरबीना, डियांथस, पेंजी, पापी, सालम, ब्ल्यूबेटम आदि विदेशी पुष्पोंकी क्यारीमें फूलोंके नाम मात्र गिनाकर आत्म-चिन्तनकी अवस्था में पहुँच जाता है। हम यह नहीं समझ सके की ग्राम्यामें जहाँ भारतीय ग्राम-जीवनको प्रस्तुत करनेका संकल्प किया गया है, इतने अधिक विदेशी फूलोंके वर्णनमें किस सौन्दर्यकलाका उद्घाटन हुआ है ? उनका क्या प्रयोजन है ? अनेक नागरिक भी इन फूलोंके नाम और गुणोंसे अपरिचित हैं, उनकी विशेषता ढूंढनेके लिये उन्हें विशिष्ट कोषोंको देखनेकी आवश्यकता है। सम्भवत: व्यापक मनुष्यत्वकी शिक्षा देने के लिए कविने हमारे ग्रामोंमें इन फूलोंके उद्यानोंकी आवश्यकता अनुभव की हो। उस समय कविको राष्ट्रीयताका विकासविश्वात्माके एकीकरणमें, सम्भव है, बाधक प्रतीत होता हो। परन्तु आज 'उत्तरा' तक पहुँच कर कवि दूसरे रूपमें सोचने लगा है। वह कहता है—"देश प्रेम अन्तराष्ट्रीयता या विश्व प्रेमका विरोधी न होकर उसका पूरक है।" विभिन्न देशोंको, अपने मौलिक व्यक्तित्वकी रक्षा का, कवि उपदेश देता है। यदि सौंदर्य-कलामें भारतीय फूलोंकी नामावली ही गिना दी गई होती, तो हमारी आँखें उन्हें देखने-परखनेके लिये कम.से.कम उत्सुक तो हो ही जातीं। इस तरह हमारा राष्ट्र.प्रेम अप्रत्यक्ष रीतिसे कवि जागृत कर सकता। कविका वर्त्तमान दृष्टिकोण हमें अधिक स्वस्थ और प्रकृत प्रतीत होता है। आत्मोन्नतिके अभावमें परोन्नति सचमुच सम्भव नहीं।

गंगा-धाराका सान्ध्य तट-रेखा-चित्र अपनेमें पूर्ण है। 'खिड़कीसे' में कवि निशाके प्रथम प्रहर में—पूनोकी उजाली में—प्रकृतिके भिन्न भिन्न दृश्य देख रहा है, कहीं क्षितिजतक आम्रवन सोया हुआ है, आकाश में ग्रह-नक्षत्र और तारकलोक की शोभा मुग्ध कर रही है। ऐसे स्निग्ध वातावरण में कवि अनुभव करता है।

"आज असुन्दरता, कुरूपता भवसे ओझल,
सब कुछ सुन्दर-ही-सुन्दर, उज्ज्वल-ही-उज्ज्वल।"

ग्राम्यामें ग्राम-दृश्योंके अतिरिक्त ग्राम्यावस्था पर कविके सहानुभूतिपूर्ण चिन्तनके रूप भी मिलते हैं। कभी कवि ग्रामवासियोंके अज्ञानपर क्षुब्ध होता

'राष्ट्र-गान' में कोटि-कोटि श्रमजीवी-सुतोंका नमन है, जो शत-शत कण्ठों' से जन-युगका स्वागत कर रहे हैं। अहिंसा आत्मको जनका मनुजोचित साधन मानते हुये भी रक्त विजय ध्वजको भी स्मरण किया गया है। राष्ट्र की प्राकृतिक श्रीवैभवके प्रति उल्लास कविके प्रायः सभी राष्ट्र-गानोंमें मिलता है। 'पतझड़' में मनके पुराने संस्कार-रूपी पीले पत्तोंको झड़नेका आग्रह किया है। 'उद्बोधन में भी कविने वही पुराना राग अलापा है। रूढ़ि, रीति, आचारों के प्रति— प्राचीन संस्कृतियोंके जड़ बन्धनोंके प्रति—तीव्र अनास्था प्रकट की है और मानववाद का स्वर झंकृत किया है।

संक्षेपमें ग्राम्याकी प्रायः सभी रचनाएँ प्रचारात्मक हैं। इसीलिये उनमें पुनरुक्तियोंकी भरमार है। स्थल-स्थलपर भारतीय प्राचीन सभी प्रकारकी पुरातनताके प्रति उनमें घोर असन्तोष व्यक्त है। कवि वर्णभेद, जातिभेदको दूर कर नव-मानव-समाजकी रचना करना चाहता है। इसके लिए उसके सामने दो मार्ग हैं। एक मार्क्सका, जो बाहरी संघर्षके द्वारा समाजकी वर्तमान स्थितिको एकदम पलट देनेका हामी है और दूसरा गांधीका, जो व्यक्तिके भीतरी परिवर्तन द्वारा समाजका नया निर्माण चाहता है। कवि कभी भौतिकता-मार्क्सवादकी ओर झुकता है और कभी गांधीवाद-आध्यात्मिकता की ओर। ग्राम्या की अवस्था तक कविका मन डाँवाडोल ही रहा है। भीतरी और बाहरी संघर्षमें ही उलझा रहा है। कविपर प्रगतिवादियोंने अस्थिरताका दोषारोपण किया तब कविने उत्तराकी भूमिकामें अपना यह विश्वास प्रकट किया कि लोक-संगठन तथा मनः संगठन एक दूसरेके पूरक हैं, क्योंकि वे एक ही युगके चेतनाके बाहरी तथा भीतरी रूप हैं और इस तरह अपना सूक्ष्मसे अभ्यंतरकी (कवि भूमिकी) ओर लौटनेका समर्थन किया। हम पन्त के इस कथनको सचमुच विद्याविनयोंके उदगार नहीं मानते, जब वे लिखते हैं कि "मुझे अपनी किसी भी कृतिसे सन्तोष नहीं है। इसका कारण शायद मेरी बाहरी भीतरी परिस्थितिके बीचका असामंजस्य है।

ग्राम्याकी रचनाओंमें, पल्लवके काव्य सौन्दर्यका बहुत कम रस पाया जाता है। कवि स्वयं स्वीकार कहता है कि ग्राम-जीवनके साथ एकरस होकर ये कविताएँ नहीं लिखी गईं—"इनमें पाठकोंको ग्रामीणोंके प्रति केवल बौद्धिक सहानुभूति ही (!) मिल सकती है।" बौद्धिक सहानुभूति से हृदय कब भीग सकता है?